दर्शन योग महाविद्यालय

(वैदिक दर्शन अध्यापन एवं योग प्रशिक्षण का आदर्श संस्थान)

आर्यवन, रोजड़, पत्रा. सागपुर, ता. तलोद, जि. साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७

दूरभाष : (०२७७०) २८७४१८, २८७५१८ • चलभाष : ९४०९४ १५०११, ९४०९४ १५०१७

Email : darshanyog@gmail.com • **Website :** www.darshanyog.org

॥ ओ३म् ॥

ब्रह्म-विज्ञान

(भगवत्प्राप्ति का सहज मार्ग)

अष्टम (परिवर्द्धित) संस्करण

पू. स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक, आचार्य श्री ज्ञानेश्वर जी तथा उपाध्याय श्री विवेकभूषण जी दर्शनाचार्य के क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविरों के प्रवचनों के आधार पर किया गया संकलन



प्रकाशक

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़, पो. सागपुर,

जि. साबरकांठा, (गुजरात) ३८३३०७

मुख्य वितरक

आर्य रणसिंह यादव

द्वारा-डॉ. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्',

पत्रा. गांधीग्राम, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२००१

संकलयिता : **आर्य रणसिंह यादव**

प्रकाशन तिथि : भाद्रपद २०६१ वि. / अक्टूबर २००४ ई

सृष्टि संवत् १९६०८५३१०५

नवमसंस्करण

लागत व्यय : २५/- रु

१. **आर्य समाज मन्दिर,** महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद-२२ (गुज.)

२. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द,** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६.

३. **आर्य प्रकाशन,** ८१४, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-६.

४. **आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय,** खर्राघाट, नर्मदापुरम्, होशंगाबाद (म.प्र.) ४६१००१.

५. **चौखम्बा ओरियेन्टालिया,** ९, यु.बी. बंग्लो रोड, पोस्ट बाक्स नं. २२०६, दिल्ली-७.

६. **सर्वोदय साहित्य मंदिर,** रेलवे प्लेटफार्म नं. १, अहमदाबाद.

७. **ऋषि उद्यान,** आना सागर, पुष्कर रोड, अजमेर (राजस्थान)

८. **गुरुकुल आश्रम आमसेना,** खरियार रोड, जि. नवापारा, उडीसा-७६६१०९.

९. **विजय वस्त्र भंडार,** निलंगा, ४१३५२१ (महाराष्ट्र)

१०. **आर्य समाज मन्दिर,** पोरबंदर, राजकोट, भरुच, मोरबी, टंकारा, जूनागढ़, गांधीनगर, आणंद, जामनगर आदि।

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़, पत्रालय : सागपुर,

जि. साबरकांठा, गुजरात-३८३३०७

दूरभाष : (०२७७४) २७७२१७, (०२७७०) २८७४१८, २८७५१८

वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) २८७४१७

E-mail : darshanyog@gmail.com

Website : www.darshanyog.org

अनुक्रमणिका

गुरु शिष्यों द्वारा मिलकर मंत्र पाठ

ओ३म् सहनाववतु सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।। **(तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपाठक १० । प्रथमानुवाक:)**

ओ३म् सहनाववतु = हे ईश्वर हम (गुरु शिष्य) दोनों मिल कर एक दूसरे की रक्षा करें ।

सह नौ भुनक्तु = मिलकर सांसारिक वा पारलौकिक सुख भोगें ।

सह वीर्यं करवावहै = हम मिलकर बल, श्रद्धा, प्रेम, यश बढ़ायें ।

तेजस्विनावधीतमस्तु = जो ज्ञान-विज्ञान सुनते, लिखते, पढ़ते उसे सीमित न रख सारे संसार में बढ़ायें ।

मा विद्विषावहै = हममें द्वेष कटुता न आये ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः = हम त्रिविध ताप से मुक्त हों ।

भूमिका

संसार की वस्तुओं के साथ हमारा सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं है तथा विषय भोगों को अधिकाधिक भोगकर कोई व्यक्ति पूर्ण व स्थायी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध सदा रहने वाला है और उसी को प्राप्त करके मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है। यह सत्य शाश्वत सिद्धान्त मनुष्य को प्रायः सुनने को मिलता है परन्तु यौवन काल में यह बात समझ में नहीं आती है। यह सत्य बात तब समझ में आती है जब मनुष्य का जीवन ही समाप्त होने को होता है तथा पढ़ी-सुनी-समझी बातों को क्रियान्वित करने के लिये शक्ति, साधन व अवसर समाप्त हो चुके होते हैं।

यौवन काल में यह बात समझ में क्यों नही आती है इसका उत्तर उपनिषत्कार ऋषि ने निम्न प्रकार से दिया है -

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ.. २-६)

भाव यह है कि जो मनुष्य भौतिकवाद के दलदल में फँसा हुआ-विषय भोगों में आसक्त है तथा धन की प्राप्ति में मूढ़ बन गया है, ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को आत्मा=परमात्मा, यम-नियम, ध्यान, समाधि आदि विषय अच्छे नहीं लगते, उन पर विश्वास नहीं होता, वह तो मानता है कि बस यही प्रथम व अन्तिम जन्म है इससे पूर्व न जीवन था न भविष्य में मरने के बाद होगा। ऐसे व्यक्ति बार-बार जन्म मृत्यु के चक्र में फँस कर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं।

आज की विकट सामाजिक परिस्थिति में जब कि वैदिक धर्म, संस्कृति, सभ्यता, रीति, नीति, परम्परा आदि का लगभग लोप सा हो गया है और भोगवादी परम्परा का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हो गया है, ब्रह्मविद्या प्रायः दुर्लभ सी हो गई है। ऋषि के शब्दों में कहें तो ऐसे कह सकते हैं -

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

(कठोपनिषद २-७)

अर्थात् - भोगासक्त आलसी प्रमादी व्यक्तियों को तो आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ब्रह्मज्ञान सुनने को भी नहीं मिलता। संयोगवश किसी-किसी जिज्ञासु को विधिवत्-यथार्थरूप में, योग्य गुरु से यह ज्ञान कहीं पढ़ने-सुनने को मिल भी जावे तो, अविद्या से मलिन चित्त वाले व्यक्ति को सुनने पर भी समझ में नहीं आता। यदि किञ्चित् समझ में भी आ जावे तो इस सूक्ष्म ज्ञान को वह अपने जीवन व्यवहार में क्रियान्वित नहीं कर पाता। इस ब्रह्मविद्या का उपदेष्टा तथा इस विद्या से सुशिक्षित होकर, अपने जीवन को कृतकृत्य करने वाला आश्चर्य रूप कोई विरला ही व्यक्ति होता है।

स्थायी सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए आज के मनुष्य ने घोर पुरुषार्थ किया है और करता जा रहा है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए मनुष्य ने सारी पृथ्वी का स्वरूप ही बदल दिया है। पहाड़ों को मैदानों में बदल दिया, नदियों के प्रवाह मोड़ दिये, इस पर बड़े-बड़े बाँध बनाकर नहरों का जाल सा बिछा दिया है, भूमि के गर्भ में से, हजारों प्रकार के खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं, सड़कें वाहन, संचार-साधन, राकेट तथा विभिन्न प्रकार के तकनीकी संयंत्रों, इलैक्ट्रोनिक्स, सिन्थेटिक साधनों का आविष्कार करके भोग सामग्री का ढेर लगा दिया है। इन सब कार्यों का यही एक लक्ष्य है कि मनुष्य का जीवन सुखी हो, शान्त हो, निर्भय हो। किन्तु गहराई से निरीक्षण करें तो हमें पता चलता है कि इतना सब कुछ किये जाने के बाद भी इस मनुष्य का जीवन पूर्व की अपेक्षा और अधिक अशान्त, भयभीत तथा दुःखी बन गया है।

यद्यपि पूर्व की अपेक्षा सामान्य मनुष्य के पास भी भौतिक धन सम्पत्ति और भोग सामग्री कहीं अधिक हो गई है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य दरिद्र, इन्द्रियदास, दीन-हीन, भीरू तथा पशुवत् बनकर रह गया है। भयंकर भूल यह हुई कि आज के मनुष्य ने अज्ञान से यह मान लिया कि अधिक से अधिक प्राकृतिक भोग सामग्री को प्राप्त कर लेने से मेरे सारे रोग, भय, चिन्ता, दुःख समाप्त हो जाएंगे और इसने अपने जीवन का परम लक्ष्य केवल वित्त (= धन + भोग सामग्री) को प्राप्त करना ही बना लिया।

जबकि ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने अपने निर्णय दिए कि - **''न दृष्टात् तत् सिद्धि''** (सांख्य. १-२) अर्थात् प्राकृतिक दृष्ट साधनों = धन, सम्पत्ति, भूमि, भवन, स्त्री, नौकर, वाहनादि माध्यम से सम्पूर्ण दुःखों का नाश संभव नहीं है। **''न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः''** (कठ. १-१-२७) अर्थात् धनादि विषय भोगों से मनुष्य कदापि तृप्त नहीं हो सकता। **''अमृतत्त्वस्य तु**

__नाशास्ति वित्तेन इति__" (बृह. उप. २-३-२) अर्थात् केवल धन सम्पत्ति से परम सुख प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती । कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त भौतिक साधन मिलकर भी आत्मा की भूख-प्यास को नहीं मिटा सकते । इसके लिए तो वेद, दर्शन व उपनिषदो में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या का ही आश्रय लेना पड़ता है ।

प्राचीन ऋषियों ने जीवन में पूर्ण व स्थायी सुख प्रदान करने वाली जिन अध्यात्म विद्याओं का उपदेश किया था उन विद्याओं को मनुष्य ने लगभग भुला दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जीवन में से ईश्वर, धर्म, सादगी, संयम, तपस्या, धैर्य, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, परोपकार आदि निकल गए । दिनचर्या ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, यज्ञ, सेवा आदि शुभ कर्मों से रहित भोग परायण बन गयी ।

ब्रह्मविद्या के पठन-पाठन श्रवण-श्रावण और तदनुसार आचरण के अभाव के कारण ही आज मनुष्य, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व की यह दुरावस्था हो गयी है । इसी ज्ञान का अभाव ही समस्त बुराइयों का मूल कारण है । यदि यह परम्परा पुनः प्रारम्भ हो जावे तो मानव समाज पुनः सुखी, शान्त, निर्भय बन सकता है ।

श्री रणसिंह जी एक सन्निष्ठ आर्य सज्जन हैं, जो विगत १०-१२ वर्षों से ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित योग प्रशिक्षण शिविरों में भाग लेते रहे हैं । शिविर की कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले आध्यात्मिक विषयों को अपने शब्दों में लिखते रहे हैं । वक्ता के शब्दों को पूरा का पूरा लेखनी से सञ्चिका में अङ्कित करना बहुत कठिन है, फिर भी आपने विषय की मुख्य बातों को संकलित करने का अच्छा प्रयास किया है । यद्यपि प्रस्तुत विषय क्रमबद्ध व व्यवस्थित रूप में संग्रहीत नहीं हो पाया है तथा अनेकत्र पुनरावृत्ति भी हुई है फिर भी अध्यात्म जिज्ञासु को पुस्तक पढ़ने पर अनेक ऐसे गूढ़ तथ्य जानने को मिलेंगे जो उसके लिए सर्वथा नये होंगे । इन विषयों पर मनन चिन्तन करके जिज्ञासु जन अपने ज्ञान को बढ़ा सकेंगे और शुद्ध कर सकेंगे । साथ ही अपने कर्मों व उपासना के स्तर को ऊँचा कर सकेंगे । इन आध्यात्मिक विषयों के संकलन तथा प्रकाशन के लिए श्री रणसिंह जी का धन्यवाद करता हूँ । तथा इनकी सब प्रकार की उन्नति के लिए शुभ कामनाएँ प्रकट करता हूँ ।

१५ मई १९९५ **ज्ञानेश्वरार्यः**

(M.A. दर्शनाचार्य)

प्रस्तावना

आज मानव समाज से वेद प्रतिपादित व ऋषियों द्वारा व्यवहार में क्रियात्मक रूप से प्रस्थापित मानवतावादी जीवन शैली और मानव के चरमलक्ष्य को प्राप्त कराने वाली योगविद्या के लुप्त हो जाने से आज मानव जन्म से मरण पर्यन्त पशुवत् केवल भोगवाद के पञ्जे में फँसकर भयंकर दुःख भोग रहा है । मानवता, भाईचारे, परोपकार व निष्कामकर्म की भावना प्रायः समाप्त हो चुकी है । मानव अपने चरम लक्ष्य - स्वयं दुःख से छूटना व अन्यों को छुड़ाना और ईश्वर (मुक्ति) प्राप्ति के उद्देश्य से भटक कर जीवन यापन के साधन संग्रह (चाहे लूट-खसोट से ही प्राप्त हों) को ही अपना साध्य (लक्ष्य) बना बैठा है । आज मानव समाज का राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक हर क्षेत्र भोगवाद की चमक-दमक व चकाचौन्ध से बुरी तरह प्रभावित हो चुका है । आज भोगवाद की लहर में चपरासी से लेकर राष्ट्रपति, एक तुच्छ मढ़ी के पुजारी से लेकर मठाधीश महामण्डलेश्वर तक सभी सत्ता पद (गद्दी) के लिये कोर्ट-कचहरी तक पहुँचे दीखते हैं । सत्य धर्म से विमुख, आडम्बर के प्रदर्शन, अद्यतन वैज्ञानिक प्रसाधनों से सुसज्जित ईंट पत्थरों की चकाचौन्ध के नीचे मानव और उसका तथाकथित भगवान् दबे पिसे जा रहे हैं । मानव निर्माण के लिये यम-नियमों के पालन का सर्वत्र अभाव है। भौतिकवाद से प्रभावित इन सत्ताधीशों व धर्म-ध्वजियों ने ही आज मानव जाति को स्वार्थी, कृतघ्न व नास्तिक बना दिया है ।

ऐसे में कोई विरला ही (करोड़ों में एकाध) ऋषियों की परम्परा में योग मार्ग पर आरूढ़ हो मानव समाज को इस भोगवाद के चंगुल से छुड़ाने के लिए अपने जीवन की आहुति अर्पित करता हुआ दीख पड़ता है ।

हमारे अहोभाग्य से स्वनामधन्य स्वामी श्री सत्यपति जी परिव्राजक व उनके सुयोग्य शिष्य द्वय आचार्य ज्ञानेश्वर जी व स्वामी विवेकानन्द जी परिव्राजक ने क्रियात्मक योग प्रशिक्षण तथा वेद कालीन ऋषियों की आध्यात्मिक जीवनचर्या को वेद, दर्शन, उपनिषदों आदि के पठन-पाठन द्वारा इस आर्यवन की धरती पर उतार कर चरितार्थ किया है । इन्होंने जिस ऋषि पद्धति (शैली) से इस विद्या को क्रियान्वित किया वह आज आर्य-जगत में दुर्लभ है, फिर पौराणिक संसार वा अन्यत्र भूमंडल पर उसका मिलना तो स्वप्नमात्र ही है ।

प्राचीन ऋषियों की योगविद्या को क्रियात्मक रूप में तथा साथ-साथ दर्शन, उपनिषद्, वेद आदि का जो अध्ययन-अध्यापन इन वैदिक विद्वान् ब्रह्मचारियों द्वारा कराया जाता है यह भूगोल में अद्वितीय कार्य है । इसका आंशिक लाभ सामान्य साधक जिज्ञासुओं को वर्ष में दो बार यहाँ पर और देश में अन्यत्र आयोजित अनेक योग शिविरों द्वारा जानने, समझने और जीवन में आत्मसात् करने को मिलता है । जिस ऋषि पद्धति से वैदिक सिद्धान्तों का परिज्ञान व क्रियात्मक योग प्रशिक्षण द्वारा मानव निर्माण का कार्य निष्काम भाव से यहाँ आठ-दस दिन में आत्मसात् करा दिया जाता है वह अन्यत्र विधि-विधान से अनभिज्ञ अन्य रीति से वर्षों में भी प्राप्त करना दुर्लभ है । इतने स्वल्प

काल की दिनचर्या से व्यक्ति के जीवन में स्थायी रूप से मोड़ आकर बुराइयों को छोड़ व अच्छाइयों को अपनाकर जीवन धन्य हो जाता है । जो शारीरिक, मानसिक व आत्मिक ज्ञान, बल, आनन्द, उत्साह, निर्भयता आदि की उपलब्धि होती है वह आश्चर्यजनक है ।

आज इस ब्रह्म विद्या (योग विज्ञान) की देश-विदेश में सर्वत्र जिज्ञासा व चर्चा है । यह शुद्ध वैदिक ज्ञान अष्टाङ्ग योग के रूप में यदि मानव को नहीं मिला तो जैसे ईश्वर के अवैदिक स्वरूप व मान्यताओं से संसार में नास्तिकता व शत्रुता बढ़ी उसी प्रकार उलटे योग नाम के प्रचार-प्रसार के द्वारा भी मानव जाति भटक जायेगी ।

आज योग विद्या के शुद्ध और अशुद्ध रूप वाला बड़ा भारी साहित्य उपलब्ध है परन्तु इस साहित्य और पुस्तकों का ज्ञान तो नव तरवैया के लिये तैरने के नियमों का ज्ञान उसे पानी में उतारे बिना कराने और सिखाने के समान है । अत: योगविद्या विज्ञान को क्रियात्मक रूप में जानने, समझने, जीवन में उतारने के लिये योग्य योग-सिद्ध गुरु निर्देशक की अनिवार्यता है; जो हमारे सद्भाग्य से ऋषि परम्परा में आज केवल गुरुवर्य स्वामी सत्यपति जी के रूप में दृष्टिगोचर होती है । अन्यत्र कहीं छिपा, ओझल, ओट में या हिमालय की कन्दराओं में अज्ञात कोई हो तो ईश्वर जाने ।

योग जिज्ञासु पाठक बन्धुओं व माताओं ! विविध योग प्रशिक्षण शिविरों में जो कुछ गुरुदेव व आचार्य गण से सुना, सीखा, समझा व सामर्थ्यानुसार जीवनचर्या में अपनाया तथा लाभान्वित हुआ, उसे यथासंभव उन्हीं के शब्दों में संकलन करने का प्रयास किया है । इसके संकलन में जो कमी-त्रुटियां रहीं वह मेरी और जो कुछ क्रियात्मक रूप में योग विज्ञान जानने को मिला वह सब इन त्रिदेव की प्रसादी समझ स्वीकार कर स्वयं को और अन्यों को लाभान्वित करेंगे । इसमें कई जगह वाक्य, शब्दों व विचारों की पुनरावृत्ति मालूम पड़ेगी परन्तु अभ्यास की दृष्टि से इसमें दोष नहीं समझना चाहिये ।

कृतज्ञता ज्ञापन - इस 'ब्रह्म-विज्ञान' संकलन को लेख बद्ध करने में हुई अनेक त्रुटियों व अशुद्धियों का संशोधन ब्र. सत्यजित् जी 'दर्शनाचार्य' इतनी लगन व तत्परता से न करते तो इसे पुस्तक का रूप देना सम्भव न हो पाता । साथ ही आदरणीय आचार्यवर ज्ञानेश्वर जी ने पुस्तक के प्रकाशन व भूमिका लिखने की स्वीकृति दे कर जो इसे महत्त्व प्रदान किया है उसके लिए उनका हृदय से बड़ा कृतज्ञ हूँ । सरल मित्र शर्मा जी 'व्याकरणाचार्य' जूनागढ़ ने संकलन का अवलोकन कर अपना जो विद्वत्तापूर्ण मन्तव्य 'पुरोवाक्' लिखा उसके लिये उनका भी हृदय से आभारी हूँ ।

निवासी खेड़ी खुमार (झज्जर) **आर्य रणसिंह यादव**
जि. रोहतक (हरियाणा) बी. ए. (पूर्व स्टेशन अधीक्षक)
'शुभम्'
रविवार दिनांक ७ मई १९९५ **रायजीनगर, जूनागढ़ (गुज.) ३६२००१**

✦ ✦ ✦

अष्टम संस्करण विषयक निवेदन

प्रिय पाठक गण ! त्रिदेव के उपदेशामृतरूप **'ब्रह्मविज्ञान'** का अनेक योग जिज्ञासुओं के आग्रह पर यह आठवाँ संस्करण स्थूल अक्षरों में प्रकाशित करते हुवे बड़े हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ । इसमें प्रौढ़ पाठकों को भी पढ़ने में बड़ी सरलता रहेगी ।

अद्वितीय विषय सामग्री, उत्तम कागज, शुद्ध मुद्रण, आकर्षक आवरण तथा केवल लागत व्यय पर उपलब्ध होने के कारण पूर्व के सातों संस्करण योग विद्या के रसिक पाठकों ने ऐसी तत्परता से अपनाए कि अल्प समय में ही समाप्त होते गए । इसी प्रकार इस स्थूलाक्षरी आठवें संस्करण को भी अधिकाधिक अपनाकर लाभान्वित होंगे ।

गृहस्थ के कार्यों में व्यस्त होते हुए भी प्रिय पुत्री डॉ. सद्गुणा आर्या ने देश भर से आने वाले पुस्तक विषयक पत्रों का उत्तर दिया तथा अत्यन्त श्रमसाध्य पुस्तक प्रेषण के कार्य को पूर्ण श्रद्धा, निष्ठा भाव से सम्पन्न किया; इसी के परिणाम स्वरूप, थोड़े से काल में ही यह पुस्तक हजारों योग जिज्ञासु पाठकों तक पहुँच सकी, यह श्रेय प्रिय पुत्री को ही जाता है । मैं उसके प्रति अन्त:करण से अपनी शुभ कामनायें प्रकट करता हूँ ।

पुस्तक के विषय में मुझे वीतराग संन्यासी महानुभावों का शुभाशीर्वाद मिला है । प्रतिष्ठित, गण-मान्य, विद्वानों व लेखकों ने पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । अनेकों ने अपने हृदय के उद्गार पत्रों के माध्यम से लिखकर मुझे भेजे हैं, जिन्हें पढ़कर मेरा उत्साह बहुत बढ़ा है तथा आत्मिक सन्तोष हुआ है । कुछ पत्रों के अंशों को इस बार पृथक् रूप से प्रकाशित किया जा रहा है ।

मुझे विश्वास तथा आशा है कि इस पुस्तक का प्रचार-प्रसार और अधिक होगा, योग साधक अपनी अध्यात्म पिपासा को शान्त करके कृतकृत्य होंगे इसी भावना के साथ -

विनीत

आर्य रणसिंह यादव.

प्रथम भाग

ब्रह्म विद्या सीखने की पद्धति

हमारे पूर्वज महान् ऋषियों ने विद्या प्राप्ति के लिये एक विशिष्ट पद्धति-शैली का निर्देश किया है। जो साधक इस पद्धति से ब्रह्म विद्या प्राप्ति के लिये प्रयास करता है वह विद्या के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और जो इस प्रक्रिया से पुरुषार्थ नहीं करता है उसे विद्या प्राप्त नहीं होती है।
'चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति' ॥ (महाभाष्य अ. १-१-१-१)

अर्थात् विद्या चार प्रकार से आती है - आगमकाल, स्वाध्यायकाल, प्रवचनकाल और व्यवहारकाल । आगमकाल उसको कहते हैं जब मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान पूर्वक विद्या को सुने । स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं जब पढ़ी सुनी विद्या पर स्वस्थ चित्त होकर विचार करे ! प्रवचनकाल उसे कहते हैं जब दूसरों को प्रेम पूर्वक पढ़ावे । व्यवहारकाल उसको कहते हैं जब पढ़ी, विचारी पढ़ायी विद्या को आचरण में लावे ।

विद्या प्राप्ति के लिये इससे मिलती-जुलती एक अन्य शैली भी है- श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार । इसके अनुसार पहले विद्यार्थी विद्या को गुरुमुख से सुने-पढ़े, पश्चात् उस पर विचार करे, तत्पश्चात् उस विषय में निर्णय लेवे और अन्त में उस पर आचरण करे । इस प्रक्रिया से विद्यार्थी के मन पर विद्या के संस्कार दृढ़ बनते हैं, मनन करने में श्रद्धा बन जाती है। इसके विपरीत पढ़ा, सुना, विचारा सब व्यर्थ सा ही हो जाता है यदि विद्या व्यवहार में नहीं उतरती है।

प्रत्येक कार्य की सफलता के कारण -

(१) पूर्व जन्म में उपार्जित संस्कार।
(२) तीव्र इच्छा ।
(३) पर्याप्त साधनों की उपलब्धि ।
(४) कार्य करने की सही विधि (शैली) ।
(५) पूर्ण पुरुषार्थ ।
(६) घोर तपस्या ।

उपरोक्त कारण ज्यादा व अच्छे हों तो शीघ्र सफलता मिलती है।

ब्रह्म विद्या का अधिकारी

विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली :-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम ॥
(निरुक्त २-१-१)

हे ब्राह्मण विद्वान् ! मैं आपकी निधि हूँ अतः मेरी रक्षा करो । जो निन्दक, कुटिल और असंयमी हो उसके लिये मेरा उपदेश मत करो ।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् इति ॥
(निरुक्त २-१)

जो पवित्रात्मा, प्रमाद रहित, बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य से युक्त और आप से किञ्चित् भी वैर न करता हो उस विद्याधनरक्षक के लिये मेरा उपदेश करें।

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
(मु.उप.३-२-१०)

जो लोग पुरुषार्थी, वेद को पढ़ने वाले, ईश्वर विश्वासी, श्रद्धालु होकर एक ज्ञानी गुरु को स्वयं स्वीकार करते हैं। उन्हीं जिज्ञासुओं को वह विद्वान् ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

योग

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योगदर्शन १-२) चित्त की वृत्तियों को रोकने को योग (= समाधि) कहते हैं।

"चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा कर शुभ गुणों में स्थिर करके , परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं, और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फँस करके उससे दूर हो जाना । उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति सदा हर्ष-शोक रहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्द युक्त रहती है; और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोक रूप दुःख सागर में ही डूबी रहती है । उपासक

योगी की वृत्ति तो ज्ञान रूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अंधकार में फँसती जाती है।" **(महर्षि दयानन्द)**

चित्त वृत्ति निरोध योग है। पर विवेक = वास्तविक विज्ञान न होने से मन रूपी उपकरण को व्यक्ति चेतन मान लेता है, जिससे वह इसे अधिकार में नहीं कर पाता है। मन के बारे में हम मानते हैं कि यह 'चला जाता है' क्या ऐसा मानना ठीक है ? विचार कहाँ से आते हैं ? स्वयं प्रत्यक्ष करके देखो, वास्तविकता का पता चल जायेगा। "हमने लगभग चालीस वर्ष पूर्व परीक्षण शुरु किया था। अधिकार पूर्वक खोज की कि मेरी इच्छा के विरुद्ध न कोई विचार आ सकता है न जा सकता है"। अच्छा भोजन खाने के लिये व्यक्ति सुसज्जित है – भूखा है; क्या वह कहता है कि मेरा मन खाने के लिये जाने नहीं देता ? परन्तु सन्ध्या में तो कहते हैं कि मेरा मन ईश्वर में नहीं लगता। सर्दी में मन क्या कम्बल नहीं ओढ़ने देता ? विद्यार्थी परीक्षा भवन में तीन घण्टे क्या कहता है कि मन नहीं लगता ? वस्तुत: अज्ञान के कारण भूल है। मन स्वत: कुछ नहीं करता हम ही मन से करते हैं। सन्ध्या में होने वाला मन का भटकाव भी स्वत: नहीं होता, हमारे द्वारा किया जाता है।

ईश्वर के स्वरूप में मग्न (तल्लीन) होना योग है। मन की वृत्ति जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है।

जिससे सारे दु:खों से छूट जायें, जिससे मोक्ष-ईश्वर को प्राप्त करें योग उसका नाम है।

मन, इन्द्रिय तथा आत्मा का विचार जो मनुष्य नहीं करता वह अयोगी रहता है। उसे भीतर का कोई ज्ञान नहीं होता और इन्द्रियों के साथ मन, मन के साथ आत्मा बहिर्मुख हो जाती है। बाह्य स्थूल पदार्थों में जो सुख दीखता है उससे हजारों गुना सुख ईश्वरानन्द में मिलता है। योग में दृश्य पदार्थों से मन को हटाने से आत्मा का संयोग विभु पदार्थ परमात्मा से होता है। जिसने कभी विचार नहीं किया, उसको आत्मा-परमात्मा का कुछ भी आभास नहीं होता। जिस समय आत्मा घबराहट में होता है उस समय कोई भी विचार का कार्य व्यक्ति से नहीं होता। मनुष्य का सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार भीतर की व्यवस्था के कारण है। ध्यान में विचार करने से मनुष्य की वृत्ति परमेश्वर के साथ जुड़ती है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

यह परमात्मतत्त्व न केवल प्रवचनों से प्राप्त होता है, न केवल मेधाबुद्धि के उपार्जन से ही और न केवल बहुत कुछ सुनने से। जो आचरण के साथ साथ हृदय के अन्तस्थल में उसे ढूंढ़ता है वही उसे प्राप्त करता है और वह परमात्मा अपनी महिमा का प्रकाशन अपने उस अनुरागी भक्त के समक्ष करता है।

ईश्वरोपासना - योगाभ्यास की पद्धति – जिससे ईश्वर के ही आनन्द स्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको उपासना कहते हैं। जब जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें, तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्द आदि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी आत्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन करके उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बारम्बार करके अपने आत्मा को भली-भाँति से उसमें लगा दें। ... **महर्षि दयानन्द**

कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, राजयोग, सहजयोग, मन्त्रयोग आदि कोई भिन्न योग नहीं हैं। अलग-अलग योगांगों का क्रमश: अभ्यास करने से नहीं परन्तु पतञ्जलि ऋषि द्वारा बताये अष्टांग योग का साथ-साथ अनुष्ठान करने से दु:खों का अत्यन्त अभाव और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इन सब योगांगों का उद्देश्य यह है कि परमात्मा के साथ जो नित्य योग है अर्थात् नित्य सम्बन्ध है उसकी जागृति हो जाये।

निष्काम कर्म (कर्मयोग) उसको कहते हैं जिसमें कर्म संसार की प्राप्ति के लिये न हो कर परमात्मा की प्राप्ति के लिए हो जाये।

दूरी के तीन प्रकार – स्थान, समय और ज्ञान, तीन प्रकार की दूरी होती है। ईश्वर सर्वव्यापक व नित्य होने से स्थान और समय से तो सदा जीवात्मा से मिला हुआ है परन्तु ज्ञान की दृष्टि से दूरी जब समाप्त हो जाती है तब कहते हैं – ज्योति से ज्योति मिल गई। यह ज्योति कोई भौतिक प्रकाश नहीं। यदि सूर्य जैसा भौतिक प्रकाश प्रभु का (में) है तो कहीं भी और कभी भी अन्धेरा न हो। यह प्रकाश ज्ञान का प्रकाश होता है। जैसे जब

विद्यार्थी की समझ में कोई प्रश्न आ जाये तो कहता है हाँ अब मेरी बुद्धि में प्रकाश (चान्दनी सी) हो गया, सवाल समझ गया अर्थात् ज्ञान हो गया। परमात्मा अपनी तरफ से दूर नहीं, जीवात्मा ही उससे विमुख हो जाता है। सम्मुख होने पर ईश्वर सब जगह, सब समय, सब वस्तुओं में और सब जीवों में है।

परमात्मा पापी से पापी, दुराचारी के भी उतने ही पास है जितना संत महात्मा, जीवनमुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी आदि के निकट है। ऐसे परमात्मा को प्राप्त करने के लिये अष्टांग योग का अनुष्ठान करें।

इस सर्वोपकारी सत्य शाश्वत सुख के देने वाले योगशास्त्र को महर्षि पतञ्जलि ने चार भागों में विभक्त किया है जिसे पाद कहते हैं।

(१) पहले पाद में योग के लक्षण-मनोनिग्रह-चित्त की वृत्तियों को रोकने के उपाय लिखे हैं। सो समाधिपाद है। इसमें ५१ सूत्र हैं।

(२) दूसरे पाद में अष्टांग योग का वर्णन और शम-दम आदि योग के साधनों का विस्तार से वर्णन। सो साधनपाद है। इसमें ५५ सूत्र हैं।

(३) तृतीय पाद में योग साधना के गौण फल वाक् सिद्धि और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति का वर्णन है। सो विभूतिपाद है। इसमें ५५ सूत्र हैं।

(४) चतुर्थ पाद में योग के प्रधान फल मोक्ष का वर्णन है इस कारण इसका नाम कैवल्यपाद है। इसमें ३४ सूत्र हैं।

क्रियात्मक योग

ब्रह्मविद्या-योगविज्ञान यह ऋषियों की मानव समाज को अर्पित अनुपम भेंट है। वह योग विज्ञान ईश्वरोपासना और व्यवहार में ईश्वर की आज्ञापालन (निष्काम कर्म) करने से प्राप्त होता है।

जिसमें क्रियाओं की प्रधानता हो वह क्रियात्मक योग है। ऐसा नहीं कि व्यावहारिक दैनिक जीवन में चाहे कुछ भी उलटे सीधे काम करते रहें और प्रातः सायं दो समय सन्ध्या के मंत्र मन में बोल लिये तो हो गया योगाभ्यास। यह योग नहीं।

वैदिक जीवन जीने की शैली ही वह क्रियात्मक योग है जिसमें उठने जागने से सोने तक नियमित दिनचर्या हो। क्रिया की अधिकता वाले इस प्रकार के योग अभ्यास में दिन भर के क्रिया-कलाप करते हुए ईश्वर को

सम्मुख रखते हुए ईश्वर से सम्बन्ध बनाये रखना। आठ अंगो का पालन व्यवहार में लाना। उठते ही ईश्वर की गोद में बैठने का अनुभव करना। दिन भर उससे जुड़े रहना। उठते-बैठते, खाते-पीते, व्यवसाय, सेवा, कर्त्तव्य कर्म करते हुए योग के यम-नियमों का पालन करते हुए जीवन जीना ईश्वरीय आज्ञानुसार अपने आपको दिव्य मानव में परिवर्तित करना है। क्रियात्मक जीवन ही योगी का जीवन है। वेदविहित शुभ कर्मों का करना ही निवृत्ति मार्ग है। वे मनुष्य जीवित कहलाने के अधिकारी हैं, जो अपने जीवन को लोकहित के कार्यों में लगाते हैं व उठने से सोने तक सब क्रिया करते हुए ईश्वर से आबद्ध रहते हैं।

हमें योगानुसार चलना है, चाहे कठिनाइयां कितनी ही क्यों न आयें। हमारी प्रत्येक क्रिया यमनियमानुसार संयमित हो। झूठ छल कपट से अस्त-व्यस्त जीवन न हो, खान-पान में मद्य-मांस न हो, असन्तोष से ग्रस्त न हो। व्यवहार में यमनियमों के बिना योग, ध्यान, धारणा, जप, समाधि सब व्यर्थ हैं।

ईश्वर के गुणों का कीर्तन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना, उसके गुणों को मांगना (अपनाना) यह भी क्रियात्मक योग है। ईश्वर की तरह लोक से अप्रभावित रहना, दुःखी न होना। ब्रह्म सम है '**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**'। मन के अपने आप में ठहर जाने पर, उसकी वृत्तियों का अनारम्भ होने पर शरीर के दुःखों का अभाव हो जाता है, क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है।

ज्ञान-कर्म-उपासना, विवेक-वैराग्य-अभ्यास और तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान इसमें सब आ गया।

योगाभ्यास का महत्त्व एवं लाभ

१. मेधा बुद्धि की प्राप्ति।
२. तीव्र स्मृति की प्राप्ति।
३. एकाग्रता की प्राप्ति।
४. मनादि इन्द्रियों पर नियन्त्रण होना।
५. कुसंस्कारों का नाश व सुसंस्कारों का उदय होना।
६. 'मैं कौन हूँ' इस का ज्ञान होना।
७. शान्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट व निर्भय होना।

८. निष्काम कर्त्ता बनना।
९. जीवन के परम लक्ष्य का परिज्ञान होना।
१०. कष्ट सह कर आदर्श पर आरूढ़ रह सकने में समर्थ होना।
११. आत्मसाक्षात्कार होना व जीवनमुक्त बनना।
१२. ब्रह्मानन्द की प्राप्ति।

योग का फल

१. **तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः।** (अथर्व. १०-८-४४)
ईश्वर को जानकर व्यक्ति मृत्यु से नहीं डरता।

२. **न च पुनरावर्तते।** (छान्दो. ८-१५-१)
जब तक मोक्ष का फल पूरा न हो जावे, तब तक जीव बीच में दुःख को प्राप्त नहीं होता।

३. **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(यजु. ३१-१८)
उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को जानकर ही मनुष्य जन्म-मरण आदि दुःखों से पार हो सकता है। मुक्ति के लिये और कोई मार्ग नहीं है।

४. **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति॥**
(तैत्ति. उप. ब्रह्मा. व. ७)
ईश्वर आनन्द स्वरूप है। यह जीवात्मा उसी आनन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करके आनन्दवान् होता है।

५. **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे॥ (मुण्ड. २-२-८)
उस सर्वव्यापक ईश्वर को योग के द्वारा जान लेने पर हृदय की अविद्यारूपी गांठ कट जाती है, सभी प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं और भविष्य में किये जा सकने वाले पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ईश्वर को जान लेने पर व्यक्ति भविष्य में पाप नहीं करता।

योगाभ्यास न करने से हानियाँ

योगाभ्यास न करने वाला व्यक्ति -
१. अपने व्यवहार से अन्यों को दुःखी करता है।

२. कृतघ्न और महामूर्ख होता है।
३. मन इन्द्रियों का दास होता है।
४. वेद व ऋषियों की सूक्ष्म बातों (विषयों) को समझने में असमर्थ होता है।
५. रोग, वियोग, अपमान, अन्याय, हानि, विश्वासघात, मृत्यु आदि से होने वाले दुःखों को सहन नहीं कर सकता।
६. काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से सम्बन्धित कुसंस्कारों को नष्ट नहीं कर पाता और सुसंस्कारों की वृद्धि नहीं कर पाता।
७. समस्याओं का ठीक समाधान नहीं कर सकता।
८. समाधि से उपलब्ध होने वाले ईश्वरीय गुण विशेष ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, स्वतन्त्रता आदि से वंचित रहता है।
९. जीवन के मुख्य लक्ष्य-समस्त दुःखों से छूटकर स्थायी सुख (नित्य आनन्द) को प्राप्त नहीं कर सकता है।

योग में प्रवेश व पात्रता

ब्रह्मविद्या पूर्ण आत्म-समर्पण करके, श्रद्धापूर्वक, प्रेमपूर्वक प्राप्त की जाती है। सिखाने वाले निपुण हैं यह मानकर केवल भावुकता से आकर नहीं बैठ जायें। वैदिक परम्परा में बिना परीक्षा किये नहीं, परन्तु सत्यासत्य की परीक्षा व निर्णय करके ही गुरु बनाकर विद्या प्राप्त करते हैं।

वैदिक योग विज्ञान को सीखने की पद्धति, प्रक्रिया तथा रीति-ज्ञान-कर्म-उपासना की है।

(१) **ज्ञान-विज्ञान** में ईश्वर क्या है ? हम क्या हैं ? यह संसार क्या है ? यह सिखाया जायेगा। इनके जाने बिना योग में प्रवेश नहीं हो सकता। जो व्यक्ति ज्ञान के क्षेत्र में ईश्वर-जीव-पकृति को नहीं जानता, वह लौकिक क्षेत्र में भी निष्फल रहता है।

(२) ज्ञान के बाद वैदिक योग में **कर्म** का विषय आता है। कर्म शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा, मन-वाणी-शरीर से होता है। क्या बुरा और क्या अच्छा यह जानकर बुरे को छोड़ता व अच्छे को करता है। लौकिक उद्देश्यों को लक्ष्य बनाकर कर्म करना 'सकाम कर्म' और ईश्वर प्राप्ति के लिये करना 'निष्काम कर्म' कहाता है। अशुभ को छोड़ शुभ कर्म करने हैं और शुभ कर्मों को भी निष्काम भावना से करना है।

(३) तीसरा भाग है – **उपासना**। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना किस प्रकार करनी चाहिए ? उसके क्या-क्या विरोधी हैं ? ईश्वर से उचित सम्बन्ध की स्थापना कैसे हो ? आदि। बिना कृतज्ञता पूर्वक उपासना के ईश्वर की सहायता प्राप्त नहीं होती। यदि उपासना नहीं करें तो कृतघ्नता से कुछ लाभ नहीं होगा।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' जिससे चित्त की वृत्तियों को रोका जा सके, जिससे मोक्ष-ईश्वर को प्राप्त करें, जिससे सारे दुःखों से छूट जायें उसका नाम योग है। जिसके अनुसार चलने से उपरोक्त बातें प्राप्त नहीं होती वह योग की परिभाषा में नहीं आता। ईश्वर के स्वरूप में मग्न (तल्लीन) होना योग है।

पात्रता – सीखने वाला व्यक्ति पात्र के रूप में अपने को उपस्थित नहीं करता तो उसे यह विद्या नहीं आती। जो मन की एक-एक चेष्टा को दिन भर नियन्त्रित (वश में) नहीं रखता, वह व्यक्ति योग विद्या नहीं प्राप्त कर पाता। जिसके अधिकार में (नियन्त्रण में) अपने मन, वाणी, शरीर नहीं, वह इस विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक साधक को यह काम स्वयं करना पड़ता है। जो साधक बिना ही किसी के कहे, बिना किसी के डर के स्वभावतः ऐसा ही रहता है वह सफल होता है। जो बार-बार कहने पर भी अपने काम को नहीं करता, इच्छुक भी नहीं होता वरन् लौकिक चेष्टा करता है तो वह सफल नहीं होता। उसको दण्ड देना पड़ता है। फिर भी नहीं सुधरे तो वह ढीठ हो जाता है। जैसे चोर डाकू कारागार में से छूटने पर भी फिर डाका डालते हैं।

साधक को कहा जाता है मत बोलिये, भोजन के समय बातें न करिये फिर भी बोलते ही जाते हैं, नहीं मानते तो पात्र नहीं बनेंगे और निष्फल होगें। अपने व्यवहार को सब के साथ ठीक रखें, फिर योग-विद्या आयेगी, सीखने में सफलता मिलेगी।

योग जिज्ञासु के आवश्यक कर्त्तव्य

(१) 'मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर को प्राप्त करना तथा अन्यों को प्राप्त करवाना है'। यह बात योग जिज्ञासु को अपने मन में निश्चय से बिठा लेनी चाहिए। जैसा कि वेदादि सत्य शास्त्रों में लिखा है –

१. **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्...** (यजु. ३१-१८)

२. **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।** (केन-उप. २-५)

३. **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।** (बृह.२-४-५)

(२) योगाभ्यासी को यम-नियमों का पालन मन, वचन और शरीर से श्रद्धापूर्वक करना चाहिए।

(३) साधक स्वयं अनुशासन में रहे और अनुशासन बनाये रखने में सहयोग देवे।

(४) योगाभ्यासी को महर्षि व्यासजी के अनुसार यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि **'नाऽतपस्विनो योगः सिध्यति'** अर्थात् बिना तपस्या के योग की सिद्धि नहीं होती।

(५) योग साधक को वेद, दर्शन, उपनिषद्, स्मृति आदि ग्रन्थों के शब्द प्रमाण पर पूर्ण विश्वास रखकर चलना चाहिये। इन आप्त वचनों पर संशय न करे।

(६) योगाभ्यासी को चाहिए कि व्यवहार में वह इतना सावधान रहे कि किसी भी प्रकार की त्रुटि (दोष) होने ही न दे, यदि कभी हो भी जावे तो उसको वह शीघ्र स्वीकार करे, उसका प्रायश्चित्त करे (=दण्ड लेवे) और भविष्य में न होवे ऐसा प्रयास करे।

(७) योगाभ्यासी वाणी का प्रयोग बहुत ही सावधानी से करे अर्थात् आवश्यक होने पर ही बोले, सत्य ही बोले, सत्य भी मधुर भाषा में बोले और वह भी हितकारी होना चाहिये।

(८) योगाभ्यासी को अपने सम्मान की इच्छा कदापि नहीं करनी चाहिये और अपमान होने पर उसको सहन करना चाहिये, (दुःखी नहीं होना चाहिये)।

(९) योग साधक को अपना प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्राप्ति (साक्षात्कार) के लिये करना चाहिये, न कि सांसारिक सुख और सुख के साधनों की प्राप्ति के लिये।

(१०) योगाभ्यासी ब्रह्मविद्या (= योगविद्या) को श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार की पद्धति से प्राप्त करने हेतु पूर्ण प्रयास करे।

(११) साधक को चाहिये कि वह योग सम्बन्धी विषयों का ही अध्ययन करे, उन पढ़े हुए विषयों पर ही चर्चा, विचार आदि करे। अन्य सांसारिक विषयों से सम्बन्धित चर्चा न करे।

(१२) योगाभ्यासी को चाहिये कि वह ब्रह्मविद्या के महत्त्व को समझे और इसकी प्राप्ति के लिये स्वयं को पात्र बनाये, जैसे कि जनक आदि राजा थे। राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से निम्न बात कही –

'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि माञ्चापि सह दास्यायेति'

(बृ.उप.४-४-२३)

हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको अपना सम्पूर्ण विदेह राज्य भेंट करता हूँ और स्वयं को भी आपके आदेश का पालन करने के लिये समर्पित करता हूँ।

(१३) योगाभ्यासी को चाहिये कि स्वयं कष्ट उठा कर (अपनी सुख-सुविधाओं का परित्याग करके) भी दूसरों को सुख पहुँचाने का प्रयास करे ।

(१४) योगाभ्यासी दूसरे के गुणों को ही देखे दोषों को नहीं, और अपने दोषों को देखे, गुणों को नहीं ।

(१५) भौतिक वस्तुओं (भोजन, वस्त्र, मकान, यानादि) का प्रयोग शरीर की रक्षा के लिये ही करे, न कि सुख प्राप्ति के लिये ।

(१६) योग साधक को चाहिये कि आवश्यकता न होने पर भोजन न करे तथा आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर भोजनादि का अधिक प्रयोग न करे अर्थात् अपनी रसना आदि इन्द्रियों पर संयम रखे ।

(१७) ईश्वर की शीघ्र प्राप्ति हेतु योगाभ्यासी को चाहिये की 'हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय' (दुःख, दुःख का कारण, सुख, सुख का उपाय) इन पदार्थों को अच्छी प्रकार समझने का प्रयास करे।

(१८) योगाभ्यासी के मन में योग सम्बन्धी विभिन्न शंकाओं के उपस्थित होने पर, किसी योगनिष्ठ गुरु के पास जाकर, उनसे आज्ञा लेकर प्रेम पूर्वक, जिज्ञासा भाव से शंकाओं का समाधान करना चाहिए, किन्तु किसी के साथ विवादादि नहीं करना चाहिए।

योग के विघ्न-उपविघ्न

योग के जो विघ्न-विक्षेप (अन्तराय) हैं वे योग के प्रथम स्तर से लेकर अन्तिम दशा तक बाधक बनते रहते हैं ।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वा-नवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । (यो.द.१/३०)

(व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्व-अनवस्थितत्वानि) ये नौ (चित्तविक्षेपाः) चित्त की एकाग्रता को भंग करने वाले हैं (ते) वे (अन्तरायाः) योग के बाधक = शत्रु हैं ।

ये विघ्न चित्त वृत्तियों के साथ ही होते हैं । इन विघ्नों के अभाव होने पर चित्त की वृत्तियाँ (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) नहीं होतीं ।

(१) **व्याधि** - गलत आहार-विहार आदि से धातुओं, वात, पित्त व कफ की विषमता से शरीर में ज्वरादि पीड़ा होना ।

(२) **स्त्यान** - सन्ध्या, उपासना आदि शुभकर्मों से जानबूझ कर जी चुराना, उन्हें न करना ।

(३) **संशय** - अभ्यासी को तुरन्त फल न मिलने से या धैर्य आदि के अभाव में सन्देह होने लगता है कि अमुक वस्तु है भी अथवा नहीं, जैसे आत्मा अमर है या मर जाता है। द्विधा बनी रहना ।

(४) **प्रमाद** - समाधि के साधन यमादि का यथावत् पालन न करना, भूल जाना, उपेक्षा करना, लापरवाह रहना ।

(५) **आलस्य** - योग साधनों के अनुष्ठान का सामर्थ्य होते हुए भी तमो-गुणादि के प्रभाववश शरीर-मन में भारीपन के कारण उन्हें न करना ।

(६) **अविरति** - तृष्णादि दोषों के कारण सांसारिक विषयों में रुचि बने रहना । अविरति=वैराग्य का अभाव होना ।

(७) **भ्रान्ति दर्शन** - मिथ्या-उलटा ज्ञान होना, जड़ को चेतन मानना आदि ।

(८) **अलब्धभूमिकत्व** - समाधि की प्राप्ति न होना ।

(९) **अनवस्थितत्व** - समाधि प्राप्त होने पर पुनः छूट जाना । समाधि में चित को स्थिर न कर पाना ।

इसके उपरान्त पांच **उपविघ्न** भी हैं जो योग दर्शन १/३१ के अनुसार निम्न प्रकार के हैं –

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।

(यो. द. १/३१)

(१) **दुःख** – जिससे पीड़ित होकर प्राणी उसके नाश के लिये प्रयत्न करते हैं उसे दुःख कहते हैं । वे तीन प्रकार के हैं । **आध्यात्मिक**– शारीरिक रोग ज्वरादि और मानसिक रोग राग द्वेषादि से होने वाले दुःख ।

आधिभौतिक– प्राणी समूह से प्राप्त होने वाले । जैसे शत्रुओं, सिंह, व्याघ्र, सर्प, मच्छरादि से होने वाले दुःख ।

आधिदैविक– जो दुःख देव अर्थात् मन व इन्द्रियों की अशान्ति से और प्राकृतिक विपदाओं अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अति सर्दी–गर्मी से हों ।

(२) **दौर्मनस्य** – इच्छा की पूर्ति न होने अथवा उसमें बाधा आ जाने पर मन का खिन्न होना ।

(३) **अङ्गमेजयत्व** – आसन सिद्ध न होने से हिलना–डुलना अथवा अन्य रोग के कारण शरीर में कम्पन होना । रोग को औषधि से दूर करें । आसन के अभ्यास से निश्चेष्ट बैठने का अभ्यास करें ।

(४) (५) **श्वास-प्रश्वास**– दमादि रोग के कारण श्वास–प्रश्वास का अनियंत्रित रूप से चलना । उपरोक्त विघ्न व उपविघ्न एकाग्रचित्त वाले योगी को नहीं होते ।

निवारण – एक तत्त्व=ब्रह्म की उपासना तथा उसकी आज्ञा का पालन करने से व्याधि आदि विघ्नों और उनके साथ होने वाले दुःखादि उपविघ्नों की निवृत्ति हो जाती है अथवा होते हुए भी, ईश्वर–प्रणिधान करने वाले योगी को ये विघ्न विक्षिप्त नहीं कर पाते ।

प्रसन्न मन एकाग्रता=स्थिरता को प्राप्त होता है । अतः मन की प्रसन्नता के लिये :–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् । (यो. द. १/३३)

अर्थात् सुखी (साधन सम्पन्न) व्यक्तियों के साथ मित्रता, दुःखी लोगों के प्रति दया, पुण्यात्माओं (धार्मिक, विद्वान्, परोपकारी लोगों) को देखकर प्रसन्न होना और पापियों के प्रति उपेक्षा (न राग, न द्वेष) की भावना (व्यवहार) करने से योगाभ्यासी का मन प्रसन्न रहता है ।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य

योगविद्या–ब्रह्मविद्या बड़ी सूक्ष्म विद्या है । यह मनुष्य जीवन कितना मूल्यवान है । जीवन काल बहुत अल्प है । कल भी रहेगा या नहीं कह नहीं सकते । मनुष्य जीवन की सफलता किसमें है ? ईश्वर की प्राप्ति करने, ईश्वर को जानने–पा लेने में है; और विफलता न जानने में है । मनुष्य जीवन पाकर भी जो ईश्वर को नहीं पाता, वह न तो अपना न अन्यों का भला करता है ।

जो भी व्यक्ति शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म, शुद्ध उपासना अपनायेगा, उसका लक्ष्य सदा ईश्वर ही बना रहेगा । जब ईश्वर ही लक्ष्य बना रहेगा तो उत्तम कार्य ही करता रहेगा । ऐसा करते–करते एक समय आयेगा कि वह अपने परम उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति कर लेगा, भले ही अगले जन्म में हो । ईश्वर बहुत प्रयत्न, तप, त्याग, परिश्रम करने से प्राप्त होता है ।

आज प्रायः सभी ने अपना लक्ष्य लौकिक सुख (तीन एषणाओं) को पूर्ण करना बना रखा है । ईश्वर प्राप्ति को आडम्बर–छल–कपट–झूठ समझते हैं । अपने लौकिक जीवन को रूपान्तरित (छोड़) कर यहाँ ब्रह्म–विद्या सीखें । उत्पन्न हो गये, बड़े होकर खाते–पीते, व्यापार करते वृद्ध होकर समाप्त हो गये । यह जीवन केवल इतना ही नहीं है । कुछ काल पहले हम में से कोई नहीं था, कुछ काल बाद कोई नहीं रहेगा । क्या वर्तमान ही सब कुछ है ? क्या खाना–पीना, वस्त्र–मकान बनाने से सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं ? हम आत्माएँ एक चेतन वस्तु, पदार्थ, तत्त्व हैं । ये हमारे मन बुद्धि आदि उपकरण–ईश्वर प्रदत्त हैं । बाहर के जल थल, वायु, सूर्य आदि हमारे जीने के साधन हैं इन साधनों का हम से सम्बन्ध है । इनको लेकर हम अपने साध्य को प्राप्त कर सकते हैं । यह विद्या जीवन में कैसे आये ? कोई भी विद्या–श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार की पद्धति से आती है । योगाभ्यास (चित्तवृत्ति निरोध) कहीं अन्य स्थल आकाश–पाताल में नहीं, परन्तु अपने इसी शरीर में अन्तः स्थल में करना है । हमारी कामना

नित्य आनन्द को प्राप्त करने से पूर्ण हो जायेगी। कोई भी कितनी ही दुर्लभ वस्तु हो प्रयास करने पर प्राप्त की जा सकती है।

ईश्वर प्राप्ति लक्ष्य क्यों हो ? – क्योंकि इसे प्राप्त किये बिना मनुष्य की सब कामनायें पूर्ण नहीं हो पाती। 'सब दु:खों से छूटना और सर्वानन्द की प्राप्ति' यह मनुष्य ही क्या पशु–पक्षी आदि हर प्राणी की इच्छा या लक्ष्य होता है।

परन्तु मनुष्य जाति आज अपना विपरीत लक्ष्य बना चुकी है। पांच इन्द्रियों के भोगों की प्राप्ति के लिये व्यक्ति सब क्रियायें कर रहा है। इन्हीं की पूर्ति के लिये भाई भाई का गला काट रहा है। पति–पत्नी का मूल्य भी धन–सम्पत्ति से आंका जाता है। आप यहाँ आर्यवन में जीवन बदलने के लिये आये हैं। यदि आपने केवल अच्छा सुना व जाना, पर किया नहीं तो समझें ईश्वर और ऋषियों की परम्परा को ठुकरा दिया। समाज में धन–सम्पत्ति के लिये बुरे से बुरे काम किये जाते हैं। निर्दोष को सरेआम मार दिया जाता है। हत्यारे डाकू को सजा पाने पर भी बन्धक के बदले छोड़ दिया जाता है। पर हमें ईश्वर, वेद और ऋषियों की आज्ञा का पालन करना है। मरण–जन्म तो होते रहते हैं। संसार अनादि काल से चला आ रहा है। अनन्त काल तक चलता रहेगा। अपने उलटे आचार–विचार को बदल डालें, चरम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को सदा समक्ष रखें। शुद्ध ज्ञान–कर्म–उपासना से योगी बन कर ईश–साक्षात्कार से ही नित्य आनन्द की प्राप्ति होगी।

कोई भी कार्य रुचि के अनुपात से कठिन और सरल होता है। जिसमें रुचि हो वह सरल, जिसमें रुचि नहीं हो वह कठिन होता है।

मनु महाराज कहते हैं – चरित्र निर्माण की शिक्षा लेने इस देश में सारे भूगोल के लोग आते थे। वह शिक्षा यह योग विद्या ही है, जिससे मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

अष्टाङ्ग - योग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ योग के अङ्ग हैं। यम–नियम अष्टाङ्ग योग के आधार बिन्दु हैं।

यम

यम पांच हैं जो "**सार्वभौमा महाव्रतम्**" कहलाते हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (यो. द. २–३०)

(१) **अहिंसा** – शरीर, वाणी तथा मन से सब काल में, समस्त प्राणियों के साथ वैरभाव (= द्वेषभाव) छोड़कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करना। अहिंसा से अगले सत्यादि चार यम और सभी नियम अहिंसा पर आश्रित और इसकी सिद्धि के लिये हैं।

(२) **सत्य** – जैसा देखा, सुना, पढ़ा, अनुमान किया हुआ ज्ञान मन में है, वैसा ही वाणी से बोलना और शरीर से आचरण करना। आवश्यकता होने पर सत्य न बोलना (चुप रहना) भी असत्य है। सत्य सब प्राणियों के हित के लिये हो।

(३) **अस्तेय** – किसी वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना उस वस्तु को न तो शरीर से लेना, न लेने के लिये किसी को वाणी से कहना और न ही मन में लेने की इच्छा करना। तन, मन व धन से किसी पात्र को सहयोग न करना भी चोरी है।

(४) **ब्रह्मचर्य** – मन तथा इन्द्रियों पर संयम करके वीर्य आदि शारीरिक शक्तियों की रक्षा करना, वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ना तथा ईश्वर की उपासना करना।

(५) **अपरिग्रह** – हानिकारक एवं अनावश्यक वस्तुओं का तथा हानिकारक एवं अनावश्यक विचारों का संग्रह न करना।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

(यो. द. २–३१)

जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में अनुष्ठान किये जाने वाले उपरोक्त यम महाव्रत माने गये हैं।

१. **जाति** – शरीर (पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य आदि),

२. **देश** – स्थान विशेष (मन्दिर, तीर्थस्थान इत्यादि)

३. **काल** – दिवस विशेष (एकादशी, पूर्णिमा इत्यादि)

४. **समय** – अपना नियम = सिद्धान्त (अतिथि को माँस खिलाऊँगा, स्वयं नहीं खाऊँगा इत्यादि)।

ये अहिंसा आदि यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित (= सभी अवस्थाओं में पालन करने योग्य) सब प्राणियों के लिये हितकारी महान् कर्त्तव्य हैं। अर्थात् सब प्राणियों के साथ इन यमों का पालन करने से मनुष्य का जीवन महान् बनता है।

नियम

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (यो. द. २/३२)

यमों के अनुष्ठान के साथ नियमों का पालन योगाभ्यासी को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाता है, किन्तु यमों के बिना नियमों का पालन करना बाह्य दिखावा मात्र होने से पतन का कारण भी हो सकता है।

(१) **शौच- अद्‌भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।**
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ मनु. ५-९

अर्थ - जल से शरीर की, सत्य से मन की, विद्या और तप से जीवात्मा की और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है।

बाह्य शुद्धि- शरीर, वस्त्र, निवास स्थान और आहार को पवित्र रखना बुद्धिनाशक नशीले मद्य-मांस आदि का त्याग करना।

आन्तरिक शुद्धि- चित्तस्थ मलों को दूर करना अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, रागादि मलों का त्याग कर देना।

(२) **संतोष-** यथाशक्ति ज्ञान व योग्यता अनुसार उत्तम कर्मों को करना, उससे प्राप्त फल से अधिक की इच्छा न करना। इससे लोभादि की वृत्तियाँ दुःख नहीं देतीं। सन्तोष पालन से प्राप्त सुख सर्वश्रेष्ठ होता है।

(३) **तप** - उत्तम कर्मों के करने में हानि, अपमान, कष्ट, बाधा आदि आने पर भी उस कर्म को न छोड़ना। गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहना।

(४) **स्वाध्याय** - मोक्ष प्राप्ति का उपदेश करने वाले वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन और ओंकारादि पवित्र मंत्रों का जप करना।

(५) **ईश्वर प्रणिधान** - समस्त साधनों शरीर, धन, मकान, भूमि, सम्पदा, शक्ति, बुद्धि, सामर्थ्य आदि ईश्वर का मानकर उसकी आज्ञानुसार कर्म करना तथा उसके फल की इच्छा छोड़ देना। जीवनमुक्त योगी पुरुष चाहे शय्या वा आसन पर स्थित हो, चाहे मार्ग में जा रहा हो, वह ईश्वर प्रणिधान द्वारा स्वस्थ=स्वरूप में ही स्थित होता है। उसके समस्त वितर्क-जाल = संशय, अज्ञान, हिंसा आदि नष्ट हो गये होते हैं और वह योगी संसार के बीज (अविद्यादि क्लेशों) तथा उनके संस्कारों का नाश करता हुआ मोक्ष के आनन्द का अधिकारी बन जाता है।

आसन

आसन की परिभाषा - उपाय तथा फल -

स्थिरसुखमासनम् । - यो. द. २/४६। जिस स्थिति में बिना हिले-डुले सुख पूर्वक ईश्वर का ध्यान किया जाता है, उसे आसन कहते हैं।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । यो.द. २/४७।

सब प्रयत्नों-चेष्टाओं को समाप्त कर देने तथा अनन्त ईश्वर में ध्यान करने से आसन की सिद्धि होती है। आसन सिद्धि के बिना ध्यान नहीं बनता। सर्वव्यापक परमात्मा हिलता-डुलता नहीं क्योंकि उसे हिलने डुलने की जगह नहीं, जरूरत भी नहीं। जब व्यक्ति न हिलने-डुलने वाले का ध्यान करता है तो वैसा ही न हिलने-डुलने वाला बन जाता है। जैसे को देखता-विचार करता वैसा ही बन जाता है। आसन एक ही स्थान पर लगायें। बिछाने वाला आसन चुभने वाला न हो।

आसन में प्रयत्न (चेष्टाओं) को रोक देना चाहिये, अनन्त ईश्वर का ध्यान करना चाहिये अर्थात् प्रभु सर्वत्र ठसा-ठस भरा हुआ है यह सुनते हैं, जानते हैं पर मानते-करते नहीं। आसन सिद्धि से भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि नहीं सतायेंगे, परिणामतः ध्यान भी लगेगा। सरलता से आसन लगने पर चित्त अनन्त आकाश व अनन्त ध्येय में चला जाता है तब योगी को अपना शरीर सम्भालने का ज्ञान नहीं रहता।

लक्ष्य स्मरण रखें कि मैं इस आसन पर इसलिये बैठा हूँ कि ईश्वर प्राप्ति करूँगा। साथ ही ईश्वर समर्पित रहना। मन-वाणी से हे भगवान्! आप सत्-चित् -आनन्द स्वरूप व निराकार हैं। हे भगवान्! आप की ही उपासना करने योग्य है। ऐसा न मानें कि वह कहीं अन्यत्र रहता है। ईश्वर को सर्वत्र सर्वव्यापक मानना। साधक जब ध्यान में बैठता है तब ईश्वर को कहीं अन्यत्र बाहर या अन्दर शरीर में खोजने लगता है। यह दोनों जगह गलत हैं। जहाँ जानता है कि मैं हूँ, यह आत्मा की अनुभूति जहाँ मैं हूँ वहीं ईश्वर है। वहीं ईश्वर को सीधे संबोधित करे "मैं क्लेश-वासना आदि सहित हूँ, आप इनसे रहित पुरुष विशेष हैं। मैं अल्पज्ञ, कर्म करने में स्वतन्त्र, पर फल भोगने में परतन्त्र हूँ। आप सच्चिदानन्द हैं, आपका नाम प्रणवः ओ३म् है।"

प्राणायाम

प्राणायाम की परिभाषा-

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

(यो. द. २/४९)

उस उपर्युक्त आसन के सिद्ध होने पर विधि पूर्वक, विचार से यथाशक्ति श्वास-प्रश्वास की गति रोकने की जो क्रिया है उसका नाम प्राणायाम है ।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।

और **बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।** (यो. द. २/५०-५१) यह प्राणायाम चार प्रकार का होता है । बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति और बाह्य आभ्यन्तर विषयाक्षेपी ।

लाभ - ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (यो. द. २/५२)

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश (ज्ञान) को ढकनेवाला आच्छादन नष्ट हो जाता है और '**धारणासु च योग्यता मनसः**' (यो. द. २/५३) मस्तक, नासिका आदि स्थानों पर मन को रोकने की योग्यता बढ़ जाती है । प्राणायाम करने से एक तो चित्तस्थ अशुद्धि का नाश और दूसरे मन के एकाग्र करने में पर्याप्त सहायता मिलती है । जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही प्राणायाम से मनादि इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं । प्राणायाम से अनेक लाभ हैं ।

(१) प्राण के वश में होने पर मन स्वतः वश में हो जाता है । **(२)** आयु की वृद्धि होती है । **(३)** शारीरिक बल, वीर्य, पराक्रमादि बढ़ते हैं । **(४)** शारीरिक मानसिक उन्नति होती है । **(५)** बुरे विचार नष्ट होते हैं । **(६)** रोग दूर होकर शरीर स्वस्थ होता है । **(७)** चित्त का मल दूर होकर मुक्ति तक ज्ञान बढ़ता जाता है । **(८)** मन आदि इन्द्रियों पर वशित्व होता है, मन एकाग्र होता है । **(९)** बुद्धि बढ़ती है । **(१०)** छाती की पेशियाँ मजबूत होती हैं । **(११)** अन्तःकरण में विषय-भोग की वासना का नाश होता है । **(१२)** हित-अहित को पहचानने की योग्यता बढ़ती है । **(१३)** भूख बढ़ती है । **(१४)** ब्रह्मचर्य का पालन होता है । **(१५)** आलस्य दूर होकर शरीर हलका, स्फूर्ति वाला होता है । **(१६)** चञ्चलता का अभाव, शान्ति और धर्म में प्रवृत्ति होती है ।

प्रत्याहार

स्वयविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥

(यो. द. २/५४)

अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने पर मन के स्वरूप जैसा हो जाना (= रुक जाना) प्रत्याहार कहलाता है । मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् इन्द्रियाँ शान्त होकर अपना कार्य बंद कर देती हैं, इस स्थिति का नाम प्रत्याहार है ।

प्रत्याहार की सिद्धि होने से योगाभ्यासी का इन्द्रियों पर सर्वोत्कृष्ट वशीकरण (= अच्छा नियंत्रण) हो जाता है । वह अपने मन को जहां और जिस विषय में लगाना चाहता है, लगा लेता है, तथा जिस विषय से हटाना चाहता है, हटा लेता है ।

धारणा ध्यान

योग के आठ अङ्गों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार योग के बहिरङ्ग साधन हैं तो धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के अन्तरङ्ग साधन हैं ।

धारणा की परिभाषा - देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ यो. द. ३-१ ॥ मस्तक, नासिका, कण्ठ, नाभि, हृदय आदि किसी एक स्थान पर मन को स्थिर करना 'धारणा' है । ईश्वर विषयक ज्ञान को लगातार बनाये रखना बीच में किसी अन्य विषय को न आने देना 'ध्यान' है । ईश्वर की गवेषणा-खोज करना (ढूँढ़ना) ध्यान है ।

ध्यान की परिभाषा - (१) तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ यो. द. ३/२ ॥ धारणा वाले स्थान पर मन को स्थिर करके, ईश्वर की खोज सम्बन्धी ज्ञान का लगातार बने रहना ध्यान है ।

(२) ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ सांख्य ६/२५ ॥ मन में सांसारिक विषयों का न रहना तथा ईश्वर का चिन्तन होते रहना ध्यान है ।

(३) रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ सांख्य ३/३० ॥ सांसारिक विषयों के प्रति राग का नष्ट हो जाना तथा ईश्वर का चिन्तन करते रहना ध्यान है ।

प्रश्न- ध्यान किसका नहीं होता ?

उत्तर - (१) जिस वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न हो उसका ध्यान नहीं होता। **(२)** जो प्रत्यक्ष ही मूर्तिमान हो उसका ध्यान नहीं होता कारण कि वह तो ज्ञात-प्राप्त हो गया। **(३)** विपरीत लक्षण से अर्थात् मिथ्या ज्ञान से भी वस्तु का ध्यान नहीं होता।

ईश्वर जिस गुण-कर्म-स्वभाव वाला नहीं है वैसी कल्पना करना ध्यान नहीं अध्यान है, इससे ईश्वर प्राप्त नहीं होगा।

जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में मन में रखकर उसकी जो खोज की जाती है उसी का नाम ध्यान है। जब ईश्वर निराकार है तो कोई व्यक्ति उसको साकार मानकर लाखों जन्मों तक भी गवेषणा करे, तो भी उसका साक्षात्कार नहीं कर सकेगा। ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को न जान कर, उसको शरीरधारी अवतार के रूप में मानकर ध्यान करने से अत्यन्त हानि हुई है। लाखों-करोड़ों लोग ईश्वर की प्राप्ति से वञ्चित रह गये। ऐसे लोग विविध प्रकार के दु:खों को भोगते हैं तथा भिन्न-भिन्न विरुद्ध रूप में ईश्वर को मानकर परस्पर लड़ाई-झगड़े करके तन, मन और धन को नष्ट-भ्रष्ट करते हैं। ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को न समझना ही दु:खों का मुख्य कारण है।

योग में ध्यान का स्थान - योग में ध्यान का विशेष महत्त्व है। यदि ध्यान न करना आये तो योग में सफल नहीं हो सकता। ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव व नाम जानकर जप और अर्थ भावना का विचार सर्मपित भावना से करना ध्यान का सच्चा स्वरूप है।

वैदिक रीति को छोड़ ध्यान की जो सैकड़ों कल्पनायें की जाती हैं उनसे ईश्वर प्राप्ति =साक्षात्कार नहीं होता। उपनिषद् में ध्यान (जप) की विधि -

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक.)

प्रणव धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म लक्ष्य है। ओ३म् रूपी धनुष आत्मा रूपी तीर को चढ़ाकर लक्ष्य परमात्मा पर पहुँचा देगा, ईश्वर में आत्मा तीर की भांति घुस जायेगा। परन्तु अन्य लोग पहले मन में विपरीत सिद्धान्त बना लेते हैं फिर वेद-उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। अर्थ में खींचतान करते हैं। गलत सिद्धान्त से मानव जीवन नष्ट हो रहा है। जब जीव

ही नहीं तो कौन ध्यान करे ? ईश्वर (ध्यान का) विषय नहीं तो किसका ध्यान ? परन्तु केवल शब्दज्ञान रखकर व्यक्ति क्रियारूप नहीं देता तो मिथ्या अभिमान होगा, वह भी **'अहं ब्रह्मास्मि'** मानने वालों की भांति कोरा रहेगा। व्यवहार और उपासना काल में हमारे सारे सम्बन्ध ईश्वर से जुड़े रहने चाहिये।

ध्यान के लिये प्रसन्नता - ध्यान के लिये मन की प्रसन्नता जरूरी है। खिन्नता, क्षोभ, राग, द्वेष आदि रहित मन ही ध्यान में लगता है। परिवार में कोई हानिकारक घटना हो गई। तो खिन्नता-क्षोभ हो गया। भोजन बांटने वाला एक, दो व तीसरी बार भी निकल गया पर हमें नहीं दिया तो मन में खिन्नता आ गई। परन्तु साधक सावधान रहें, विपरीत भावना जागने पर मन को खिन्न न होने दें। शरीर में सामान्य पीड़ा हो तो भी पुरुषार्थी साधक मन लगा सकेगा। साधक को सदा सावधान रहना पड़ता है। उस ड्राईवर की भाँति जो गंगोत्री जमनोत्री मार्ग पर चलता है, पलक झपकते ही क्षण भर भी असावधानी बरते तो खाई में जा गिरे। पढ़ते-लिखते, जानते होते हुए भी जो व्यवहार में प्रेम से नहीं रह पाते वे दु:खी रहते हैं। खिन्नता न लाकर सन्तोष का प्रयोग करना पड़ता है। उसे कोई चीज मिले न मिले उसकी अवस्था शान्त रहती है। एक तो मित्र खाना न खिलाये तो भूख का दु:ख, फिर क्यों न खिलाया यह मानसिक दु:ख स्वयं पैदा करता है। वृत्ति निरोध से दु:ख दूर किया जा सकता है।

चित की प्रसन्नता के लिये जब व्यवहार में प्रवृत्त हों तो इस प्रकार व्यवहार रखें -

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । (यो. द. १/३३)

सुखी (= साधन सम्पन्न) व्यक्तियों के साथ मित्रता, दु:खी लोगों के प्रति दया, पुण्यात्माओं (धार्मिक, विद्वान्, परोपकारी लोगों) को देखकर प्रसन्न होना और पापियों के प्रति उपेक्षा (न राग, न द्वेष) की भावना (= व्यवहार) करने से योगाभ्यासी का मन प्रसन्न रहता है और प्रसन्न मन एकाग्रता=स्थिरता को प्राप्त होता हैं।

ध्यान के लिये स्थिति (आसन) - आसनासीन होकर ही ध्यान करें। ब्रह्मोपासना आसन से ही सम्भव है। शयान को आलस्य (नीन्द) घेर

लेता है । खड़ा श्रान्त हो जाता है । चलता हुआ चञ्चल होता है । जहाँ शान्त-एकान्त स्थल हो वहाँ आसन लगायें । अचल रहने से ही ध्यान निष्पन्न होता है । हिलने-डुलने से मन डुल जाता है ।

ध्यान के लिये मनोनियंत्रण - भले ही लौकिक व्यक्ति के मन में कोई विचार आये कोई विचार जाये, परन्तु योगाभ्यासी को अपना मन नियन्त्रण में रखना पड़ता है । जैसे कुशल सेनाध्यक्ष युद्ध में सतत निरीक्षण करके किसी शत्रु को अपने क्षेत्र में प्रवेश नहीं करने देता । इसी प्रकार योगाभ्यासी की आंखें उसके नियंत्रण में रहती हैं, वे चाहे जो नहीं देख सकतीं । वह आंख को ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल ही देखने देता है विरुद्ध नहीं । वह द्वेष दृष्टि से नहीं प्यार की दृष्टि से देखता है जैसे ईश्वर सब प्राणियों को देखता है या अभ्यासी स्वयं अपने को प्यार की दृष्टि से देखता है ।

जब व्यक्ति ध्यान में बैठता है तो उसकी स्थिति विचित्र, बहुत ऊँची होती है । सामान्य व्यवहार से अलग । जिससे अपना मन मुटाव है, ध्यान अवस्था में उस व्यक्ति से प्यार हो जाता है । उस समय उससे ईर्ष्या समाप्त हो जाती है । एक उद्देश्य को दृढ़ बनाने के लिये आधा घण्टा विचार करें, ताकि संशय मिट सके । संशयात्मक ज्ञान ईश्वर में प्रीति नहीं होने देता ।

जैसे पृथ्वी की सत्ता वास्तविक है ऐसे ईश्वर की भी है । जब प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द प्रमाण से विचार करेंगे तब निदिध्यासन से निश्चय हो जायेगा । जैसे भूमि अन्नादि देती है, इसी तरह ईश्वर आनन्द-सुख देता है ।

ध्यान की एक पद्धति - ध्यान के लिये साधक प्रति दिन किसी निश्चित शान्त समय में तथा किसी नीरव स्थान पर शरीर को शिथिल करके आराम की सहज मुद्रा में सुखासन में बैठ जाये । साधक तटस्थ होकर चिन्तन प्रवाह को देखता रहे । केवल द्रष्टा बनकर आत्मनिरीक्षण करते हुए विश्लेषण, तुलना, मूल्यांकन आदि करके देखे कि विचार कहाँ से आते हैं ? कौन उठाता है ? तो पायेगा कि न तो जड़ मन में विचार स्वयं उठते हैं न कोई अन्य उठाता है । विचार उठाने वाला स्वयं निरीक्षण करने लगा तो विचार आने बन्द हो गये । तटस्थ द्रष्टा रहकर इस विचार प्रवाह को देखता रहे तथा स्वयं उसमें न जुड़े अन्यथा मन में तनाव आ जायेगा । वे सब इच्छायें और

भय हमारे ही हैं जो हमें अनजाने दु:खी करते रहते हैं । धैर्य रखें तथा तटस्थ द्रष्टा होकर अपने भीतर के गहरे स्तर को देखते रहें । वास्तव में जड़ मन भी गतिमान् तो निरन्तर रहता है किन्तु हमें इस ध्यान अवस्था में ही उसका विशेष ज्ञान होता है । तब हमारे निरीक्षण के समक्ष जड़ मन नग्न होकर दीखने लगता है ।

ध्यान की दूसरी पद्धति - प्रणव 'ओम्' अथवा 'गायत्री मंत्र' को अर्थ सहित समर्पण भाव से थोड़ी देर तक धीरे-धीरे बोल कर जप करना चाहिये तथा स्वयं अपने मंत्रोच्चारण की ध्वनि को सुनना चाहिये । फिर मानसिक जप को प्रारम्भ कर देना चाहिये और आंख बन्द कर के अपने मानसिक जप को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए । यह मानसिक जप करते हुए साधक को आत्म-समर्पण भाव से ओत-प्रोत होकर भाव पूर्ण प्रार्थना करनी चाहिए । परमेश्वर हृदय की वाणी, कातर पुकार को अवश्य सुनते हैं । वास्तव में जप या ध्यान साधन है, साध्य है प्रभु के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना । इसके द्वारा ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ा जाता है । प्रार्थना करते हुए उपासक भाव विभोर हो जाता है । उसे कुछ समय के लिये अपने तन-मन तथा बहिर्जगत् का भान नहीं रहता तथा जप आदि छूट जाते हैं और साधक आनन्दलीन हो जाता है ।

ध्यानस्थ स्थिति व लाभ - ध्यानावस्था में साधक को समीप के कोलाहल का नगण्य सा आभास हो सकता है; किन्तु तल्लीनता के कारण उसे बाधा का अनुभव न हो सकेगा । ध्यान की अवस्था में शरीर अत्यन्त भारहीन, मन सूक्ष्म और श्वास-प्रश्वास अलक्षित प्रतीत होते हैं । दूर प्रतीत होने वाला ईश्वर समीप अनुभव होने लगता है ।

ध्यान से दु:ख की निवृत्ति - ध्यान द्वारा मन पर नियन्त्रण करने से काम, क्रोध, मोह आदि से पैदा होने वाले दु:ख बिलकुल नहीं छूते । शारीरिक दु:ख एक सीमा तक रोके जा सकते हैं । ईश्वर का ध्यान करने पर शारीरिक दु:ख कम सतायेंगे अथवा कम मात्रा वाले बिलकुल नहीं सतायेंगे । व्यवहारिक जीवन में यम-नियम का पालन करने से दोनों काल की सन्ध्या में (=ध्यान में) सफलता मिलती है ।

समाधि

समाधि की विविध व्याख्यायें -

(१) **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।** (यो. द. ३/३) वह ध्यान ही केवल अर्थ (ईश्वर) के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, अपने स्वरूप से शून्य जैसा 'समाधि' कहा जाता है।

इसमें वस्तु तत्त्व (ईश्वर) प्रधान हो जाता है और व्यक्ति अपने को भूल सा जाता है। जिसमें भी समाधि लगाएगा वही दीखेगा। ध्यान केवल अप्रत्यक्ष का होता है, जो प्रत्यक्ष है ही उस दीखनेवाली वस्तु का ध्यान क्या ? साधक ने अभ्यास करते हुए चित्त पर इतना अधिकार कर लिया कि कल्याण के लिये एक लक्ष्य 'ओ३म्' सर्वरक्षक पर जमा रहा, बीच में कोई वृत्ति नहीं उठाई। दूसरे विचार भी कि मैं शरीर हूँ या अन्य तत्त्व हूँ आदि किसी पर भी कोई वृत्ति उठाये बिना लगे रहना। जैसे विद्यार्थी पाठ को कण्ठस्थ करने के लिये अन्य विषयों को नहीं उठाता। तब ऐसे ही निर्धारित विषय ईश्वर में स्थित होने पर योगी की असम्प्रज्ञात समाधि होती है। और जब ईश्वर से भिन्न प्राकृतिक पदार्थ या जीव समाधि का विषय होते हैं तब वह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

(२) **चित्तस्य (मनसः) ऐकाग्र्यं समाधिः ।** अर्थात् चित्त की एकाग्रता को भी समाधि कहते हैं।

(३) **मनसः (चित्तस्यः) ब्रह्मणि समाधानं स्थिरीकरणं वा समाधिः ।** अर्थात् मन को ईश्वर में स्थिर कर देना समाधि है।

(४) **तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ।**
(वैशे.द ५/२/१६)

जब मनुष्य अपने मन को समस्त सांसारिक विषयों से हटाकर आत्मा-परमात्मा में स्थिर कर लेता है, तब वह समस्त शारीरिक और मानसिक दुःखों से रहित हो जाता है, इसे ही योग (समाधि) कहते हैं।

(५) **तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः** (सांख्य २/३४) वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर इन्द्रियों के विषयों का प्रभाव शान्त हो जाने से, जिसका राग शान्त हो (रुक) गया है ऐसा व्यक्ति अपने आत्मा में स्थित हो जाता है, इसको समाधि (योग) कहते हैं।

जब व्यक्ति मन में किसी न किसी सांसारिक पदार्थ की अनुभूति (भोग) कर रहा होता है वह व्युत्थान अवस्था है। ध्यान से, समाधि से, एकान्त उपासना से, ईश्वर प्रणिधान अथवा अत्यन्त ब्रह्मविचार करने से जब मन केवल ब्रह्म में रत (मग्न) होता है, तब बाह्य जगत् से वह लापरवाह सा रहता है। उसे वह दिखाई ही नहीं पड़ता।

समाधि के प्रारम्भिक काल में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद नहीं रहता। यह अवस्था दूसरों को वाणी से पूर्णतः बतलाई नहीं जा सकती, अनुभव ही की जा सकती है। शान्त सम-बुद्धिवाला परमेश्वर के समान ही सदा आनन्दमय रहता है। व्यवहार में भी उसको लोगों से भय अथवा उससे लोगों को जरा भी अन्यायपूर्वक कष्ट नहीं होता। जो हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दुःख आदि बन्धनों से मुक्त, सदा अपने आप में ही सन्तुष्ट है। त्रिगुणों से जिसका अन्तःकरण चञ्चल नहीं होता। स्तुति या निन्दा और मान या अपमान जिसे सम=एक से हैं। तथा प्राणी मात्र के अन्तर्गत आत्मा की एकता-समानता को परख, साम्य बुद्धि से आसक्ति छोड़कर, धैर्य और उत्साह से अपना कर्त्तव्य कर्म करता है वह स्थितप्रज्ञ, समाधि अवस्था को प्राप्त होता है।

मन का निग्रह तथा योगाभ्यास करने से हमारे ऋषियों को ऐसी अवस्था (जीवनमुक्तावस्था) सहज थी। परन्तु आज लाखों मनुष्यों में एकाध ही इसके लिये प्रयत्न करता है; और इन प्रयत्न करने वालों में से किसी विरले को ही अनेक जन्मों के अनन्तर मोक्ष की स्थिति प्राप्त होती है।

समाधि का स्वरूप - वह ध्यान ही समाधि बन जाता है। जैसे कोई बढ़ई लकड़ी को छीलता-छीलता उसे कुर्सी का आकार दे देता है वैसे ही ध्यान करते-करते समाधि में परिवर्तित हो जाता है। फिर ध्यान करने वाला जिस वस्तु को खोज रहा था वह तो प्रकाशित हो गई और खोजने वाला शून्य सा दीखने लग गया। वहाँ दीखना अर्थात् अनुभूति है। इसके लिये यह जरूरी नहीं कि वह वस्तु आकार वाली ही हो। जैसे अग्नि आँख से दीखने वाली है, जैसे अन्योन्य पदार्थ अलग-अलग इन्द्रियों से दीखते हैं, ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार आत्मा को भी परमात्मा की अनुभूति या दर्शन होता है।

समाधि में एक विचित्र सी दशा हो जाती है।

प्रज्ञा प्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

जैसे पहाड़ पर रहने वाला भूमि पर रहने वालों को देखता है वैसे ही पुरुषार्थ से विवेक, वैराग्य को प्राप्त होकर उच्च स्थिति में पहुँचा योगी नीचे लौकिक जनों को क्लेशादि से पिसता हुआ अत्यन्त दुःखी देखता है ।

यह स्थिति सम्प्रज्ञात समाधिस्थ योगी की होती है । असम्प्रज्ञात समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार होता है तब सारे संसार को ईश्वर में डूबा हुआ सा देखता है, जैसे कच्ची मिट्टी का टीला समुद्र में डूब जाता है । और योगाभ्यासी की हालत जलमग्न हुई रूई के समान अर्थात् जिसके भीतर-बाहर जल ही जल भरा हुआ है ऐसी होती है ।

समाधि लगने पर व्यक्ति मुक्त आकाश में विचरने जैसा अनुभव करता है । समाधि टूटती है तो भूमि पर लोक में उतर आने जैसा अनुभव करता है । लौकिक व्यक्ति को यह स्थिति बड़ी भयावह लगती है । क्योंकि उसे अपने सिवा कुछ भी दिखाई नहीं देता है । यह स्थिति प्रलय अवस्था जैसी होती है । किन्तु योगी (समाधिस्थ व्यक्ति) के लिये यह स्थिति निर्भय बनानेवाली होती है । योगी उस स्थिति को छोड़ना नहीं चाहता । इस अवस्था में शुद्ध ज्ञान-विज्ञान होता है, ऐसा अन्य अवस्था में नहीं होता ।

समाधि प्राप्ति की विधि - जो सृष्टि रचना को समझ लेता है, पुरुष व प्रकृति को विवेक-वैराग्य-अभ्यास से जान लेता है उसकी समाधि शीघ्र लग जाती है । ईश्वर-जीव-प्रकृति इन तीन को अपने ज्ञान में विशुद्ध रूप में लाकर खड़ा कर लेता है तो समाधि प्राप्त हो सकती है, यदि नहीं तो नहीं ।

मन जड़ है, क्योंकि यह तीन जड़ पदार्थों (सत्त्व-रज-तम) से उत्पन्न हुआ है । जो-जो चीज इन तीन जड़ तत्त्वों के सम्मिलन से पैदा होती है वह जड़ होती है जैसे पृथिवी ।

मन की अवस्थाएँ (१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध इनको व्यक्ति समझ ले तो ठीक, यदि नहीं समझता तो त्रुटि है ।

अभ्यासी अष्टाङ्ग योग का अभ्यास करते-करते ऊपर उठे । योग में क्या क्या गति हुई, क्या क्या अनुभूतियाँ हुई इसका सतत निरीक्षण करता रहे । यह कैसे पता लगाएँ कि समाधि लग गई है ? वह विचारे कि क्या ऋषियों वाला अनुभव हमें मिलता है ? यदि मिलता है तो समझें कि हमारी समाधि लग गई, यदि नहीं तो वह समाधि नहीं कहलायेगी । जैसी कोई कहे

समाधि में मुझे ईश्वर जीवात्मा एक हो गये दीखते हैं तो गलत है क्योंकि वे एक हैं ही नहीं । यदि पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा इन तीनों में से कोई भी ईश्वरैषणा को दबा देता है तो समझो समाधि नहीं ।

जब नित्य-अनित्य का विवेक हो जाता है तब इस संसार का मालिक व सब से प्रिय वस्तु ईश्वर को मानता है । जब स्व-स्वामी सम्बन्ध छूटता है तब ईश्वर को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लेता है । मैं-मेरा कुछ नहीं रहता । वर्तमान संसार प्रलयवत् दीखने लगता है । ईश्वर ही उसको सब कुछ दिखाई देता है । अर्थात् जब समाधि की स्थिति हाथ लगती है तो ईश्वर से अत्यन्त प्रेम दीखता है । प्रारंभ से आंख मिचि-मिचि सी रख कर कार्य करता है, फिर अभ्यास से बातें करते, चलते, व्यवहार करते हुए खुली आंख में भी समाधि की स्थिति नहीं बिगड़ती । खाता-पीता है पर स्वाद (=सुख) नहीं लेता ।

यह विधि सीखते-सीखते बड़ा समय लगता है ।

समाधि से प्रभावित शरीर - इस समाधि अवस्था का शरीर पर निम्न प्रभाव पड़ता है ।

(१) मस्तिष्क पर दबाव पड़ता है जैसे कोई वस्तु चिपका दी हो ।
(२) शारीरिक कष्ट एक सीमा तक तो दुःख नहीं देगा, पर भयंकर दर्द-घाव के दुःख को नहीं रोक सकेगा ।
(३) सर्दी-गर्मी नहीं सतायेगी ।
(४) भूख-प्यास योगी को कम सतायेगी ।

समाधि का शरीर पर सीमित प्रभाव होता है । कट-मर जाने पर, शरीर बिना समाधि नहीं होती । परन्तु लोगों ने इसके वर्णन में अतिशयोक्ति कर दी । सम्भव के साथ असम्भव को जोड़ देने के परिणाम स्वरूप योग की सम्भव बातों को भी गप के रूप में माना जाने लगा ।

मन पर प्रभाव - काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, उलटे संस्कार आदि पर सीधा प्रभाव पड़ता है । इनका बिलकुल दग्धबीजभाव बन जाता है । विचारों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है ।

समाधि अवस्था में अनुभूतियाँ

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा (यो. द. २/२७) समाधि प्राप्त योगी को यह सात प्रकार की अनुभूतियां होती हैं :-

(१) छोड़ने योग्य दु:ख को पूरा जान लिया, उसे और जानना शेष नहीं है। संसार दु:खरूप प्रतीत होता है। संसार में आना ही नहीं चाहता "**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्**" (यो. द. १/१६) योगी को सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों से तृष्णा हट जाती है। यह परवैराग्य की अवस्था होती है। कोई भौतिकवादी माने न माने यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

(२) दु:ख के कारण अविद्यादि क्षीण कर दिये, वे और क्षीण करने शेष नहीं रह गये। दु:ख तो दु:ख है ही, ज्वर होगा, छुरा मार दिया आदि पर अन्य सांसारिक सुखो में भी दु:ख मिश्रित है।

"**परिणामतापसंस्कार दु:खैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:**" ॥ (यो. द. २/१५) यह अभ्यास से धीरे अनुभव होगा, फिर बुद्धि स्वीकार करेगी।

योगी को सांसारिक सुखों में दु:ख दीखने लग जाता है। पांच इन्द्रियों के भोगों में दु:ख मिश्रित सुख है। उसको योगी जान लेता है। प्रकृति में सुख है पर दु:ख मिश्रित है।

(३) असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा मोक्ष सुख का अनुभव कर लिया है। यह समझने पर भी मोक्ष के उपाय श्रवण, मनन, स्वाध्याय आदि को छोड़ता नहीं है।

(४) मोक्ष की उपायरूपा 'विवेकख्याति' को सिद्ध कर लिया है।

(५) बुद्धि के दो प्रयोजन भोग और अपवर्ग सिद्ध हो गये हैं। बुद्धि की जितनी भाग-दौड़ थी वह पूर्ण हो गई है।

(६) सत्त्वादि गुण मेरा अगला जन्म नहीं कर सकेंगे।

(७) मोक्षावस्था में जीवात्मा दु:ख के कारणरूप सत्त्वादि गुणों के सम्बन्ध से रहित हो जाता है।

सामान्य व्यक्ति इन शरीर, इन्द्रियों में अपने आप को घुला-मिला देखता है। समाधि प्राप्त योगी अपने (जीवात्मा) को इन से स्पष्ट अलग देखता है। अपने को प्रकृति-विकृति से अलग जानता है। केवल अपने को ही नहीं जानता वरन् अपने में ईश्वर को भी ओत-प्रोत अनुभव करता है।

समाधि से सम्बन्धित उपरोक्त बातें कोई भ्रान्ति नहीं, बलात् नहीं। ये काल्पनिक वा मनमानी बातें नहीं हैं। यह सब प्रमाणों से सिद्ध है। शंका कुशंका मन में लाने से लाभ नहीं। जो परिश्रम करेगा उसे निश्चय हो जायेगा। यदि दो बातें सत्य निकलीं तो आगे प्रयोग करने से अन्य दस बातें

भी सिद्ध हो जायेंगी। सत्य, अहिंसा का पालन करने से बुद्धि का विकास होता है। करके देखें, वैर रहित होकर देखें, सोचें। बुद्धि अद्‌भुत् विकसित होगी।

वृत्ति निरोध होते ही मस्तिष्क पर दबाव पड़ता है। वृत्तियों को बिलकुल रोक देना लम्बे अभ्यास के बाद हो पाता है। शरीर पर प्रभाव पड़ता है। छोटी-मोटी व्याधि नहीं सताती। बौद्धिक स्तर पर ऐसा लगेगा जैसे स्वतन्त्र आकाश में विचरण की स्थिति हो। वृत्ति निरोध की प्राप्ति के लिए अपने आपको मिटा देना पड़ता है। नाम-नामी, भोग-भोक्ता नहीं रहता। जब यह आरम्भ होता है आश्चर्य की बात होती है। यह कर सकना आपके वश में भी है, फिर भी आप कुछ नहीं कर रहे हैं। अर्थात् बिलकुल अल्प कर रहे हैं। कुत्ते, गधे, घोड़े आदि के पास तो साधन नहीं हैं। आप के पास साधन होते हुए भी नहीं करते।

यह ऋषियों की परम्परा लुप्त हो गई थी। ऋषि दयानन्द ने उभारा, प्रकट कर दिया। बाद में आर्य समाज ने धर्म व देश के सुधार तथा स्वतन्त्रता के लिये बहुत प्रयत्न किया, परन्तु योग और ईश्वर की खोज पर, गवेषणा पर, शुद्ध सिद्धान्त होते हुए भी विशेष प्रयत्न नहीं किया। अन्यों के तो सिद्धान्त ही गलत हैं।

इस योगविद्या विज्ञान को पुन: प्रचलित करने के लिये इन चीजों को क्रिया रूप देना, ईश्वर की खोज करना आवश्यक है। साधन जुटाकर व बाधाओं का समाधान करके फिर प्रमाणित करना है कि ईश्वर है और जाना जाता है। वेदों की बातें जानते जायें तो सिद्ध कर सकते हैं। साधक जैसे ही प्रलयवत् अवस्था सम्पादन कर लेता है तो समाधि आरम्भ हो जाती है। फिर स्थिति बढ़ते-बढ़ते पुरुषार्थ के बाद उसे ईश्वर अपना ज्ञान देता है। कृपा करके आनन्द देता है और क्लेशों की परिसमाप्ति हो जाती है। फिर वह अपने को, संसार को भी समाप्त अनुभव करता है। मैं भी कुछ हूँ यह भावना भी नहीं उभरती। अहम् भाव को मिटा देता है। केवल ईश्वर ही ईश्वर अनुभव होता है। इस अवस्था की प्राप्ति में ईश्वर-जीव-प्रकृति (त्रैतवाद) का शुद्ध सिद्धान्त काम करता है।

व्यक्ति दुरितों से प्यार करता है, उलटी चीजों को छोड़ता नहीं अत: सब समझते हुए भी समाधि में सफलता नहीं मिल पाती।

प्रलय अवस्था सम्पादन के प्रयोग से तुरन्त समाधि उपलब्ध हो जाती है। जो उत्पन्न होती है वह नष्ट भी होती है इसका ज्ञानपूर्वक सम्पादन कर लें। सब पदार्थ पञ्चमहाभूत से बनते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से। भौतिक दृष्टि से जीवन का आधार सूर्य है। लगभग दो अरब वर्ष के बाद सूर्य की गर्मी कम होगी तो आधार बिना आधेय (=सब पदार्थ) नाश-प्रलय को प्राप्त हो जायेंगे। शनैः शनैः क्रमशः विनाश। नीरव-शान्त-अंधकार। कुछ भी शेष नहीं रहता। जब विवेक पूर्वक इसका सम्पादन कर लेता है तो वृत्ति रहित होकर समाधि लग जाती है।

ईश्वर साक्षात्कार बतलाना वेदानुकूल

ईश्वर का साक्षात्कार करके पात्रों को बतलाना यह वेद-उपनिषद् आदि के अनुसार एक योगी के लिये उचित ही है। इसमें प्रमाण -

(१) **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥** यजु. ३१-१८॥

(२) **अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।** कठो.२/१०॥
अनित्य द्रव्यों की सहायता से मैं नित्य ब्रह्म को प्राप्त हुआ हूँ।

(३) **तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥** (प्रश्नोपनिषद ६/७) पिप्पलाद ऋषि शिष्यों को बोले-इस 'पर ब्रह्म' को मैं इतना ही जानता हूँ। इससे परे अन्य कोई ब्रह्म नहीं है।

(४) राजा जनक की सभा में ऋषि याज्ञवल्क्य का उद्घोष था कि **मैं ब्रह्म को जानता हूँ।** इसी आधार पर वे राजा जनक द्वारा पुरस्कृत भी किये गये। (बृहदा. उप.)

(५) **पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदोविदुः ॥** (अथर्व. १०-८-४३)

शब्दार्थ - **(नवद्वारम्)** नव अर्थात् सात सिर के व दो नीचे के द्वार वाला **(पुण्डरीकम्)** कमल=पुण्य का साधन यह शरीर **(तस्मिन्)** उस शरीर में **(त्रिभिः)** सत्त्व-रज-तम **(गुणेभिः)** गुणों से **(आवृतम्)** ढका हुआ है **(आत्मन्वत्)** जीवात्मा का स्वामी **(यत्)** जो **(यक्षम्)** पूजनीय **(ब्रह्म)** है, **(तत्)** उसको **(वै)** ही **(ब्रह्मविदः)** ब्रह्मज्ञानी **(विदुः)** जानते हैं।

उपनिषद् से मिथ्या अर्थ निकाल कर गलत प्रचार किया कि जो व्यक्ति यह कहता है कि 'मैंने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया' उसने ईश्वर को नहीं

जाना और जो यह कहता है कि 'मैंने ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया' उसने ईश्वर को जान लिया। दूसरी बात जानने की है कि जीवात्मा का पता चल जाये तो ईश्वर को जानने में सुविधा हो जाये। आप हैं, आपकी सत्ता है, 'मैं हूँ'। यह जो शरीर है, इससे अलग आत्मा जिसमें न गन्ध, न स्पर्श कुछ नहीं फिर कैसे जंच गया। इसी तरह मैं सोचता हूँ, खाता हूँ। यह चाहिए, यह न चाहिए। मैं जानता हूँ, नहीं जानता हूँ। आत्मा की सिद्धि इसी से हो जाती है। यह सारा व्यापार जीवात्मा को सिद्ध कर देता है। यदि अपने स्वरूप का निश्चय हो जाये कि मैं सत्तात्मक जानने वाला पदार्थ हूँ। शरीर में रहता हुआ सब काम करता हूँ। यदि जीवात्मा नहीं होता तो यह सब बनाया संसार व्यर्थ होता। मनुष्येतर प्राणी चिड़िया कबूतर आदि अण्डे देते, घोंसला बनाते, चुग्गा खाते यह सब व्यवहार करते हैं। जो आत्मा न हो तो स्वप्न में कौन स्वप्न देखता है। यह जीव ही है। यदि हम कोई चेतन पदार्थ हैं, जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है तो ईश्वर भी ऐसा निराकार पदार्थ क्यों नहीं हो सकता?

सारा संसार बाहर-भीतर, ईश्वर से भरा हुआ है। कोई कण खाली नहीं है। पर व्यक्ति सोचता है एक निश्चित लम्बाई-चौड़ाई वाला ईश्वर होता तो तसल्ली हो जाती। अल्पज्ञ जीव, सारे के सारे ईश्वर को जान लेता। मैं अनन्त ईश्वर को जान न सकूँगा। मेरा अल्प ज्ञान है। इसका समाधान यह है कि ईश्वर के इतने सारे गुण हैं, उन सब को जानें तो ही ईश्वर को मानें यह जरूरी नहीं। अपनी आत्मा के स्वरूप को समझें फिर परमात्मा को समझें।

अब रही बात ईश्वर का दर्शन होता है तो क्या अनुभूतियाँ होती हैं? जैसे हवा लग रही है, त्वचा इन्द्रिय को छू रही है, धक्का दे रही है। वस्तुतः ये गुण और गुणी एक वस्तु है। समझाने के लिये गुण-गुणी को पृथक्-पृथक् कहा जाता है। जिस प्रकार ठण्डा, तरल आदि गुणों का झुण्ड पानी का गुण है, वह पानी से अलग नहीं। इसी प्रकार से सत्-चित्-आनन्द-ज्ञान आदि गुण ईश्वर से पृथक् नहीं है, इन गुणों से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इन गुणों के बिना ईश्वर नहीं जाना जाता।

शरीर के रहते ईश्वरानन्द रोटी की पूर्ति नहीं करता। शरीर के विषय में एक सीमा तक ही दुःख निवारण होता है। थोड़े दुःख का अनुभव न होना, अनुभव होने पर रोक देना, अति होने से न रोक सकना आदि। बिना शरीर

के समाधि नहीं लगती। मानसिक क्लेश-शत्रुओं को तो समाधि के माध्यम से जड़ मूल से उखाड़ देते हैं। समाधि अवस्था में सारा संसार ईश्वर में डूबा हुआ दीखता है, तीनों कालों का व्यवहार समाप्त हो जाता है।

सच्चे योगी के लक्षण

(१) जो सम्पूर्ण दिन ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाये रखता हो।
(२) समस्त संसार का (अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि सहित) निर्माता, पालक, रक्षक ईश्वर को मानता हो।
(३) वेद तथा वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों पर अत्यन्त श्रद्धा रखता हो।
(४) ईश्वर-जीव-प्रकृति (त्रैतवाद) के स्वरूप को यथार्थ रूप में जानता हो।
(५) संसार के विषय भोगों में चार प्रकार का दु:ख अनुभव करता हो।
(६) विषय भोगों में सुख नहीं लेता हो और जिसका अपने मन इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो।
(७) ईश्वर प्रदत्त साधनों का ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल (धर्म पूर्वक) साधन के रूप में उचित मात्रा में उपयोग करता हो।
(८) फल की आशा से रहित (तीन एषणाओं से रहित) निष्काम भावना से कर्मों को करता हो।
(९) इच्छा का विघात, वियोग, अपमान, विश्वासघात, असफलता, अवसर चूकना इत्यादि स्थितियों में चिन्तित, भयभीत, क्षोभयुक्त, दु:खी न होता (रहता) हो।
(१०) समस्त संसार को ईश्वर में डूबा हुआ देखता हो।
(११) दैनिक क्रिया-व्यवहारो में (विचारना, बोलना, लेना-देना, समझना-समझाना आदि में) अत्यन्त सावधान रहता हो।
(१२) जो आध्यात्मिक अविद्या (अनित्याशुचि आदि) से रहित हो और विद्या से युक्त हो।
(१३) जो समस्त अविद्याजनित संस्कारों को दबाये रखने में समर्थ हो।
(१४) यमों का पालन सार्वभौम महाव्रतम् के रूप में करता हो, चाहे मृत्यु भी क्यों न आ जाये।
(१५) जो हर समय प्रसन्न, सन्तुष्ट, निर्भय, उत्साही, पुरुषार्थी आशावादी रहता हो।

(१६) शरीर, बल, विद्या आदि उपलब्धियों का एषणाओं के लिये प्रदर्शन न करता हो।
(१७) किसी के द्वारा बताये जाने पर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण तत्काल करता हो।
(१८) धन, बल, कीर्ति आदि की प्राप्ति के प्रलोभन में आदर्शों का त्याग या उनके साथ समझौता कदापि न करता हो।
(१९) शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना इन तीनों का समायोजन करके चलता हो।
(२०) गंभीर, मौनी, एकान्त सेवी, संयमी, तपस्वी हो (विशेषकर प्रारम्भिक काल के लिये)
(२१) देश, जाति, प्रान्त, भाषा, मत, पन्थ, रूप-रंग, लिंग आदि भेद-भावों से रहित, सब से प्रेम करने वाला सब का हितैषी, दयालु, कल्याण करने वाला हो।
(२२) योग दर्शन, उपनिषद् वा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में आये हुए सत्य सिद्धान्तों को ठीक समझकर उनका आचरण करने वाला हो।

ज्ञान - कर्म - उपासना

ज्ञान - कर्म - उपासना।
विवेक - वैराग्य - अभ्यास।
जानें - करें - लाभ उठायें।
विधि - उपाय - लक्ष्य।

ज्ञान-कर्म-उपासना में सारा मानव जीवन आ जाता है। मानव का चरम लक्ष्य सब दु:खों से छूट कर परमानन्द मुक्ति-सुख प्राप्त करना है। आजकल अनेक सम्प्रदाय वाले कोई केवल ज्ञान का, कोई केवल कर्म का तो कोई केवल भक्ति का एकांगी ढोल पीट रहे हैं, किन्तु मानव जीवन की पूर्णता के लिये, सफलता के लिये तीनों उपाय आवश्यक हैं।

शुद्ध ज्ञान - शुद्ध कर्म - शुद्ध उपासना

ज्ञान- किसी वस्तु के गुण-कर्म-स्वभाव को यथार्थ रूप में, तात्त्विक रूप में जानना 'ज्ञान' है। वस्तु को ठीक-ठीक जानकर ही निर्णय होता है कि क्या बुरा छोड़ने योग्य व क्या अच्छा ग्रहण करने योग्य है। यह विवेक हुआ, वस्तु का यथार्थ ज्ञान।

कर्म- मन से, वाणी से, शरीर से छोड़ने या ग्रहण करने का प्रयत्न करना 'कर्म' है। अच्छी को, उपकारी को ग्रहण करना व असत्य-अन्याय-अधर्म-अहितकारी को छोड़ना यह कर्म (वैराग्य) है। त्याग और ग्रहण, छोड़ना व पकड़ना दोनों वैराग्य के अन्तर्गत आते हैं।

उपासना- पहले वस्तु को जानना, फिर प्राप्ति का प्रयास किया। प्राप्त करने के बाद उसका उपयोग-सेवन करना 'उपासना' है। पकड़ी को पकडे रहना, छोड़ी हुई को छोड़े रहना अभ्यास है।

उपासना करने के प्रयास ध्यान, सन्ध्या आदि कर्म हैं। पर जब समाधि द्वारा ईश्वर में मग्न होकर ज्ञान-शान्ति-आनन्द-बल प्राप्त कर रहे होते हैं, यह उपासना है। जानें-करें-लाभ उठायें। उपासना (अभ्यास) से परिपक्वता-दृढ़ता आती है।

मानव निर्माण के मूल आधार शुद्ध ज्ञान-शुद्ध कर्म-शुद्ध उपासना हैं। कर्म का क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते उच्च निष्काम कर्म की कोटि में आ जाता है यह अत्यन्त परिश्रम साध्य है। अत्यन्त तीव्र इच्छा, योग्यता, तप, त्याग व पुरुषार्थ से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। तीव्र इच्छा रखने वाला ईश्वर प्राप्ति में सफल होगा; परन्तु योग्यता कम हुई तो कम प्रगति होगी। जब ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों का समन्वय होता है तो योगी बनता है, और तभी ईश्वर को पाता है।

ज्ञान (विवेक)

ज्ञान - जिससे ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर फिर उनसे यथायोग्य उपकार लिया जा सके, इसका नाम ज्ञान (विद्या) है। शुद्ध (तात्त्विक) ज्ञान के बिना शुद्ध कर्म नहीं और शुद्ध कर्मों के बिना शुद्ध उपासना नहीं हो सकती। उलटे ज्ञान-उलटे कर्म व उलटी उपासना से मानव दु:ख सागर में गोते खाता रहता है।

ज्ञान के प्रकार

ज्ञान चार प्रकार का होता है। व्यक्ति का ज्ञान बदलता रहता है। अभावात्मक - संशयात्मक - भ्रमात्मक और निर्णयात्मक।

(१) अभावात्मक - किसी सत्तात्मक वस्तु का ज्ञान न होना। सत्तात्मक वस्तु के विद्यमान होते हुए भी उस पर विश्वास न करना, उसके

अस्तित्व का ज्ञान न होना। जैसे साम्यवादी नास्तिकों का ईश्वर के अस्तित्व में अभावात्मक ज्ञान है।

(२) संशयात्मक - एक वस्तु के विषय में दो प्रकार का विपरीत ज्ञान रखना, जैसे ईश्वर निराकार है या साकार। जन्म लेता है या नहीं। न्यायकारी -दयालु है या नहीं।

(३) भ्रमात्मक - वस्तु के गुण-कर्म-स्वभाव से उलटा विपरीत ज्ञान होना और मानना। ईश्वर को चौथे आसमान, गोलोक, परमधामादि में मानना।

(४) निर्णयात्मक - जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा मानना। यथार्थ रूप में जानना, मानना और करना ही निश्चयात्मक ज्ञान की अवस्था है। निर्णयात्मक ज्ञान के बिना, वस्तु से पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते।

ज्ञान की ये चार अवस्थायें बदल भी जाती हैं। प्रत्येक वस्तु के बारे में निर्णयात्मक ज्ञान होना चाहिये। यदि निर्णयात्मक ज्ञान होगा तो उस कार्य को करने में व्यक्ति सफल होगा; जिसका ज्ञान ठीक उसका कर्म ठीक, जिसका कर्म ठीक उसकी उपासना ठीक होगी। उपासना ठीक होने से समाधि ठीक लगेगी इससे ईश्वर का साक्षात्कार होगा। ईश्वर साक्षात्कार से ईश्वर के ज्ञान, बल, आनन्द की प्राप्ति होगी। इससे दु:खों से पूर्ण छुटकारा हो सकेगा।

एक काल में एक प्रकार का ज्ञान रहता है। परिपक्व अवस्था न बने तब तक मनुष्य का ज्ञान बदलता रहता है। मिथ्या ज्ञान होने से अन्याय, अधर्म, अविद्या, दु:ख वा अशान्ति बनी रहती है। सुख वहाँ जहाँ शान्ति हो, शान्ति वहाँ जहाँ परस्पर प्रेम हो, प्रेम वहाँ जहाँ विश्वास हो, विश्वास वहाँ जहाँ सत्य हो, और सत्य कौन सा जो यथार्थ है। बिना परिपक्व बने ज्ञान बदलता है। साधक मौका मिलने पर विषय भोग, छलकपट से धन-उपार्जन आदि को ठीक मानने लगता है।

ज्ञान के विकास (व्यावहारिकता) से व्यक्ति पूज्य, महान् बनता है, ह्रास से निम्न बन जाता है। परिपक्व ज्ञान के बिना ज्ञान से पूरा लाभ नहीं उठा सकते। यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के बाद भी यदि साधक उसे प्रयत्न पूर्वक पकड़े नहीं रहेगा तो उस निर्णयात्मक स्तर से गिर जायेगा। कभी ज्ञान का इतना उच्च स्तर होता है कि करोड़ों के लोभ को ठुकरा देता है, पर कभी इतना निम्न कि वही व्यक्ति कौड़ी पर मन डिगा देता है।

स्वयं पढ़कर अन्यों को पढ़ाना, प्राप्त को बांटना । जो सुनता है पर सुनाता नहीं, पढ़ता है पर पढ़ाता नहीं, सीखता है पर सिखाता नहीं उसका ज्ञान स्थायी और उपकारी नहीं होता ।

ज्ञान प्राप्ति तीन प्रकार से

(१) शाब्दिक – वेद आदि शास्त्र, आप्त ज्ञानी पुरुषों से पढ़ना–सुनना । जैसे ईश्वर के बारे में हमारा शाब्दिक ज्ञान है ।

(२) आनुमानिक – शरीर पर विचार किया, धातुएँ कौन बना रहा है ? सृष्टि कौन बना–चला रहा है ? इससे ईश्वर का आनुमानिक ज्ञान होता है । ब्रह्माण्ड नियम में चल रहा है, कोई अदृश्य नियामक शक्ति इसे नियम में चला रही है । यही आनुमानिक ज्ञान समाधि में प्रत्यक्ष हो जाता है ।

(३) प्रात्यक्षिक – शरीर चल रहा है, इसमें आत्मा है । बाह्य ज्ञान इन्द्रियों द्वारा और आन्तरिक ज्ञान आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष होता है ।

ज्ञान का क्षेत्र

संसार में अनन्त वस्तुएँ हैं । सब का ज्ञान न तो इस छोटे जीवन काल में प्राप्त करना सम्भव है और न ही परमानन्द मुक्ति के लिये आवश्यक । इस पिण्ड के एक अवयव आँख का पूर्ण ज्ञान हजारों डाक्टर मिलकर भी नहीं पा सके । इस ब्रह्माण्ड में दौड़ लगाने वाले वैज्ञानिक दस अरब आकाशगंगाओं का पता लगा चुके, इससे आगे के लिये उनके साधन अपर्याप्त सिद्ध हो रहे हैं । उससे आगे न जाने कितना अनन्त ब्रह्माण्ड होगा जिसका ज्ञान मानव को इस जन्म में तो क्या अनेक जन्म–जन्मान्तरों में भी सम्भव नहीं । तो भी वेद और ऋषियों द्वारा पूर्ण आनन्द प्राप्ति (मुक्ति) के लिये जो ज्ञान दिया गया उसे अनुभव करके अनेक तर गये । वे हमारे सामने ज्ञान को तात्त्विक रूप से स्पष्ट रख गये । वह ज्ञान तीन पदार्थों का है :–

ईश्वर	**जीव**	**प्रकृति**
साध्य	साधक	साधन
भुगानेवाला	भोक्ता	भोग्य वस्तु
देने वाला	ग्राहक	वस्तु

पदार्थों का व्यावहारिक ज्ञान

ईश्वर के सम्बन्ध में हमारा शाब्दिक ज्ञान बहुत है पर तात्त्विक ज्ञान बहुत कम है । ईश्वर के सत्तात्मक ज्ञान को व्यावहारिक रूप में समझें । हमारा ज्ञान प्रकृति, जीव व ईश्वर के विषय में उत्तरोत्तर कम है ।

यद्यपि ज्ञान व विद्या अनन्त हैं, फिर भी जीव का इतना सामर्थ्य है कि वह अपने ज्ञान को बढ़ाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है; हाँ, कोई भी जीव न सर्वज्ञ हुआ, न है और न हो सकता है । सर्वज्ञ तो केवल ईश्वर है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है । जो सर्वव्यापक नहीं वह सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता । एकदेशी जीव कितना ही ज्ञान बढ़ाये, महाज्ञानी हो जाये परन्तु सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता । अज्ञ व्यक्ति शीशे में देख प्रतिदिन समझता है कि मैं गोरा, काला, बूढ़ा, जवान, स्त्री या पुरुष हूँ, परन्तु योगी–ज्ञानी–विवेकी अपनी गाड़ी (रथ) शरीर के आदि–अन्त का निरीक्षण करके वर्त्तमान को समाप्त करता हुआ अपने शुद्ध आत्मरूप को देखता है ।

सत् – प्रकृति जिसकी विद्यमानता है चाहे नाशवान् हो पर वह अभाव को प्राप्त नहीं होती । अन्य जो वस्तु सत्तात्मक गुण वाली हैं वे आत्मा और ईश्वर हैं । ईश्वर व जीव कभी विनाश को प्राप्त नहीं होते, उनका अभाव कभी नहीं होता ।

चित् – ज्ञानी चेतन जो चारों ओर अन्दर–बाहर–सर्वत्र भरा हुआ है उस ईश्वर की सर्वत्र विद्यमानता न जानकर अन्य के प्रति बुरे विचार मात्र से व्यक्ति बुराईयों में फंसता जाता है । ईश्वर अरबों मनुष्यों, खरबों कीट–पतंगों, पशु–पक्षियों की पल–पल, क्षण–क्षण की हरकत को जानता है । ईश्वर को ज्ञानवान् चेतन जान कर सहाय मांगें तो सफल होंगे । जीव भी चेतन है पर एकदेशी, ज्ञानवान् है पर अल्पज्ञ ।

आनन्द – ईश्वर आनन्द स्वरूप है, जैसे मिश्री हलवे आदि में मिठास लगती है वैसे ईश्वर में भी मिठास है । परन्तु इस मिठास में चार प्रकार के दु:ख का लेश भी नहीं है । ईश उपासना में आनन्द बढ़ता ही जाता है । परन्तु मिश्री–हलवे की मिठास कम होते–होते गारे के समान लगने लगती है । सांसारिक सुख से रोगी, ईश्वरीय सुख से निरोगी होता है । व्यक्ति यह सब मानता–जानता है पर उसे जँचता नहीं, क्योंकि उसने इस ज्ञान को व्यवहार में

नहीं उतारा। ईश्वर को वास्तव में नित्यानन्द का भण्डार माननेवाला व्यक्ति अन्य किसी वस्तु में ईश्वर से बढ़कर रुचि नहीं करता।

सर्वशक्तिमान् – ईश्वर अपने नियम में रहकर उपादान कारण से संपूर्ण कार्य जगत् को बनाता है। बिना किसी की सहायता लिये सब कार्य कर सकता है, अतः सर्वशक्तिमान् है।

तीन वस्तुएँ जो संसार के मूल में हैं, मूल तत्त्व हैं उनका ही विवेक-वैराग्य-अभ्यास करना मुक्ति का साधन है।

वैदिक धर्म में ईश्वर का स्वरूप

प्रथम ईश्वर के अस्तित्व के विषय में विचार करना चाहिये। ईश्वर के विषय में मुख्यरूपेण दो मान्यतायें हैं।

प्रथम मान्यता यह है कि ईश्वर एक सत्तात्मक वस्तु है। दूसरी मान्यता यह है कि ईश्वर कोई सत्तात्मक वस्तु नहीं है।

इन दोनों मान्यताओं में जो प्रथम मान्यता है वही ठीक है; क्योंकि प्रमाणों से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। जो बात प्रमाणों से सत्य सिद्ध हो वही मानने योग्य है अन्य नहीं. क्योंकि किसी वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व में प्रमाण ही निर्णय का कारण है।

"**जन्माद्यस्ययतः**" (वेदान्त दर्शन अ.१-१-२) **अर्थ** – जिससे इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वह ईश्वर है। यदि ईश्वर न हो तो भूमि आदि लोक और मनुष्यादि के शरीरों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कर्त्ता के बिना कार्य सम्भव नहीं।

प्रश्न – भूमि आदि लोक और मनुष्य आदि के शरीर स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – भूमि आदि लोक और मनुष्यादि के शरीर जिन परमाणुओं से बने हैं, वे परमाणु जड़ हैं अर्थात् ज्ञान रहित हैं। अतः वे स्वयं मिलकर भूमि, शरीर आदि के रूप में उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे लोहे के कण स्वयं भूमि में से निकल कर रेल का इन्जिन नहीं बन सकते इसी प्रकार भूमि के कण भी स्वयं भवन नहीं बन सकते। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। दूसरी यह बात भी ईश्वर को सिद्ध करती है कि किसी जीव को मनुष्य शरीर मिला है तो किसी को कुत्ते-गधे आदि का। मनुष्य योनि में कुत्ते आदि योनियों से अधिक स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार मनुष्य शरीरों में ज्ञानादि का जितना

विकास हो सकता है उतना पशु आदि योनियों में नहीं हो सकता। यह जीवों के कर्मों का फल है। यदि ईश्वर न हो तो कर्मों का फल नहीं मिल सकता।

प्रश्न – कर्म स्वयं जीव को अपना फल दे सकता है, ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – कर्म कोई चेतन वस्तु नहीं हैं जो कि जीव को अपना फल स्वयं दे सके। दूसरी बात यह भी है कि कर्म जिस समय किया जाता है वह उसी समय नष्ट भी हो जाता है। फिर वह कालान्तर में फल कैसे दे सकता है? जो कर्म से संस्कार बनते हैं वे भी कर्म का फल नहीं दे सकते क्योंकि वे कोई चेतन वस्तु नहीं हैं। संसार में देखा जाता है कि जो चेतन है वही कर्म करने वालों को उनके कर्मों को जानकर वेतन आदि के रूप में फल देता है।

प्रश्न – इन भूमि आदि लोकों को भी किसी व्यक्ति ने बनते हुए तो देखा नहीं कि जिससे इनके बनाने वाले ईश्वर को स्वीकार किया जाये।

उत्तर – जो वस्तु तोड़ने से टूट जाती है वह अनादि नहीं हो सकती जैसे कि यह मनुष्य का शरीर तोड़ने से टूट जाता है वैसे ही भूमि भी तोड़ने से टूट जाती है। अतः भूमि उत्पन्न होती है अनादि नहीं है। भूमि आदि पदार्थ स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिये इनको उत्पन्न करनेवाला चेतन पदार्थ ईश्वर है। संक्षेपरूप से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो गया है।

प्रश्न – प्रश्न उठता है कि वैदिक ईश्वर का स्वरूप क्या है?

उत्तर – (१) यजुर्वेद में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं। कवि-र्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु. ४०-८)

पदार्थ – हे मनुष्यों जो ब्रह्म (**शुक्रम्**) शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान् (**अकायम्**) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित। (**अव्रणम्**) छिद्ररहित और नहीं छेद करने योग्य (**अस्नाविरम्**) नस नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित (**शुद्धम्**) अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (**अपापविद्धम्**) जो पापयुक्त, पापकारी और पाप से प्रीति करने वाला कभी नहीं होता। (**परि अगात्**) सब ओर से व्याप्त है जो (**कविः**) सर्वज्ञ (**परिभूः**) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला और (**स्वयंभूः**) अनादि

स्वरूप, जिसकी संयोग से उत्पत्ति, वियोग से विनाश, माता-पिता, गर्भवास, जन्म, वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा (**शाश्वतीभ्यः**)सनातन अनादि स्वरूप, अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश रहित (**समाभ्यः**) प्रजाओं के लिये (**याथातथ्यतः**) यथार्थ भाव से (**अर्थान्**) वेद द्वारा सब पदार्थों को (**विअदधात्**) विशेष कर बताता है (**सः**) वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने योग्य है।

योग दर्शन पाद १ के २४-२५-२६ इन तीन सूत्रों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है।

(२) 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' । 'तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' । 'स एष पूर्वेषामपि गुरु : कालेनानवच्छेदात्' ।

अर्थ - जो अविद्यादि क्लेशों से रहित है; जो शुभ, अशुभ वा मिश्रित कर्म नहीं करता, केवल निष्काम शुभ कर्म ही करता है; जो कर्मों का फल नहीं भोगता और कर्मों का फल भोगने से उत्पन्न होने वाले संस्कार जिसमें नहीं होते, वह पुरुषविशेष ईश्वर है। जिससे अधिक ज्ञानी कोई भी नहीं है और जो सर्वज्ञ है। जो सभी पूर्वजों, वर्त्तमान और भविष्य में होने वाले गुरुओं का भी गुरु है और जो काल से कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता वह ईश्वर है।

(३) आर्य समाज के दूसरे नियम के अनुसार :- ईश्वर सच्चिदा-नन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

प्रश्न - ईश्वर को सातवें आसमान, चौथे आसमान, परमधाम, वैकुण्ठ आदि एक स्थान पर मानने से क्या हानि है ?

जो किसी एक स्थान पर रहता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, और जो सर्वज्ञ नहीं है वह सब जीवों के कर्मों को जानकर उनका उचित फल नहीं दे सकता, और जो उचित फल नहीं दे सकता वह न्यायकारी नहीं हो सकता। ईश्वर सातवें आसमानादि स्थानों में रहता है, यह बात प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं है। अतः अमान्य है।

प्रश्न - जैसे जीव शरीर के एक स्थान में रहते हुए सम्पूर्ण शरीर के व्यापार को जानता है, वैसे ही परमेश्वर भी परमधामादि में एक स्थान पर रहते हुए भी सब कुछ जान सकता है और कर्मों का फल दे सकता है।

उत्तर - यह दृष्टान्त सत्य नहीं है क्योंकि शरीर में एक स्थान में रहने वाला जीव सम्पूर्ण शरीर के व्यापार को नहीं जानता। यदि जीव सम्पूर्ण शरीर के व्यापार को जानता होता तो कोई भी व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता। बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर भी शरीर के विषय में पूर्णरूप से नहीं जानते; और वे रोगी भी हो जाते हैं। इसलिये यह मान्यता असत्य है कि जीव शरीर में एक स्थान पर रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर के विषय में जानता है। सर्वज्ञ केवल वही हो सकता है जो सर्वव्यापक हो, एक स्थान में रहनेवाला नहीं।

प्रश्न - जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो जीव और प्रकृति के रहने के लिये कोई स्थान शेष नहीं रहना चाहिये ?

उत्तर - ईश्वर पत्थर की भाँति स्थान को नहीं घेरता और न जीव स्थान को घेरता है। इसलिये ईश्वर के सर्वव्यापक होने पर भी जीव और प्रकृति के रहने में कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न - ईश्वर से अतिरिक्त जीव और प्रकृति को स्वतन्त्र अनादि पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? ईश्वर स्वयं ही जीव और संसार के भूमि आदि सब पदार्थों को अपने स्वरूप से ही उत्पन्न कर लेवेगा ?

उत्तर - ईश्वर निर्विकार और निराकार है, अतः जीव, प्रकृति और भूमि आदि को अपने स्वरूप से उत्पन्न नहीं कर सकता और चेतन से जड़ की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृति एक अनादि पदार्थ है। उसी से ईश्वर संसार की समस्त वस्तुओं को बनाता है। जीव भी स्वतन्त्र अनादि पदार्थ है। यदि जीव को भिन्न पदार्थ न माना जाये तो सुख-दुःख को कौन भोगे ? ईश्वर तो आनन्द से परिपूर्ण है, उसको अन्य किसी भी प्रकार के सुख की आवश्यकता नहीं है। और प्रकृति जड़ है, वह सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं कर सकती। इसलिये शुभाशुभ कर्मों का करने वाला और सुख-दुःख को भोगने वाला जीव अनादि पदार्थ है।

प्रश्न - कुछ लोग केवल ब्रह्म को ही अनादि मानते हैं, जीव और प्रकृति को नहीं। कुछ लोगों की मान्यता यह है कि प्रकृति ही एक अनादि पदार्थ है, वे जीव और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। किन्हीं का

मत है कि जीव और प्रकृति ये दो ही अनादि पदार्थ हैं ईश्वर कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं है।

उत्तर – ये तीनों प्रकार की मान्यतायें प्रमाणों से खण्डित हो जाती हैं, अतः मानने योग्य नहीं हैं। वेद में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को अनादि बतलाया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।

(ऋ.मं.१ सू. १६४ मंत्र २०)

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने इस मंत्र का अर्थ स.प्र. ग्रन्थ के ८ वें समुल्लास में इस प्रकार किया है। "(**द्वा**) जो ब्रह्म और जीव दोनों (**सुपर्णा**) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (**सयुजा**) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (**सखाया**) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं और (**समानम्**) वैसा ही (**वृक्षम्**) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ है। इन तीनों के गुण कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। (**परिषस्वजाते**) एक-दूसरे से लिपटे हुए स्थित है। (**तयोरन्यः**) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप-पुण्य रूप फल को (**स्वाद्वत्ति**) अच्छी प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (**अनश्नन्**) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप तीनों अनादि हैं"।

प्रश्न – वेद में ईश्वर, जीव, प्रकृति को अनादि बतलाया है, परन्तु ये अनादि क्यों हैं?

उत्तर – "**सदकारणवन्नित्यम्**" (वैशेषिक ४-१-१) अर्थात् जिस वस्तु के कारण नहीं होते वह नित्य होती है। नित्य वस्तु अनादि होती है। संसार में देखा जाता है कि जब तीन कारण विद्यमान होते हैं तब किसी कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे कि घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त कारण है, मिट्टी उपादान कारण है और चक्र दण्डादि साधारण कारण हैं। इन तीन कारणों से घड़े की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के तीन कारण ईश्वर, जीव और प्रकृति के नहीं हैं, अतः ये उत्पन्न नहीं होते। जिस वस्तु के ये तीन

कारण होते हैं वह उत्पन्न होती है, जिसके नहीं होते वह उत्पन्न नहीं होती। उत्पन्न न होने वाली वस्तु को अनादि कहते हैं।

प्रश्न – ईश्वर, जीव, प्रकृति की प्रमाणों से सिद्धि हो गई, परन्तु इन तीनों का परिज्ञान हो जाने पर मनुष्य को क्या लाभ होता है?

उत्तर – सभी प्राणी अविद्यादि पांच क्लेशों से छूटकर स्थायी सम्पूर्ण (दुःख रहित) आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु जब तक ईश्वर, जीव, और प्रकृति का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और उस ज्ञान के अनुसार मनुष्य ईश्वर की उपासना व शुभ निष्काम कर्म नहीं करता तब तक पांच प्रकार के क्लेशों से छूट कर दुःख रहित स्थायी सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः अपने मुख्य लक्ष्य की सिद्धि के लिये इन तीन वस्तुओं का परिज्ञान अवश्य ही करें।

इन तीन को साध्य साधक और साधन भी कहते हैं। इन तीन वस्तुओं का परिज्ञान न होना ही संसार के दुःख का मुख्य कारण है। वेदों में और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों में यह निर्णय किया गया है कि ईश्वर साध्य है, जीव साधक है व प्रकृति साधन है। ईश्वर अनन्त आनन्द, ज्ञान, बल युक्त है। अतः वह प्राप्त करने योग्य है। जीव नित्य पूर्णानन्द, ज्ञान, बल की प्राप्ति करना चाहता है अतः वह साधक है और ईश्वर रूपी साध्य को प्राप्त करने के लिये प्रकृति का साधन रूप में प्रयोग होता है अतः वह साधन है।

प्रश्न – ईश्वर को साध्य, जीव को साधक और प्रकृति को साधन जानकर जो व्यक्ति निष्काम कर्म करता है और विधिपूर्वक ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता है, वह समस्त दुःखों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त होता है, इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर – (१) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय ॥ (यजु. ३१/१८)

पदार्थ :- हे जिज्ञासु पुरुष! (**अहम्**) मैं जिस (**एतम्**) इस पूर्वोक्त (**महान्तम्**) बड़े-बड़े गुणों से युक्त (**आदित्यवर्णम्**) सूर्य के तुल्य प्रकाश स्वरूप (**तमसः**) अन्धकार व अज्ञान से (**परस्तात्**) पृथक् वर्तमान (**पुरुषम्**) स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (**वेद**) जानता हूँ (**तम् एव**) उसी को (**विदित्वा**) जान के आप (**मृत्युम्**) दुःखदायी मरण को (**अति**

एति) उल्लङ्घन कर जाते हैं। किन्तु (**अन्यः**) उससे भिन्न (**पन्था**) मार्ग (**अयनाय**) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिये (**न विद्यते**) नहीं विद्यमान है।

(**ऋषिभाष्य**)

इस वेद मंत्र से स्पष्ट है कि जो व्यक्ति ईश्वर को ठीक व्यावहारिक रूप में जानकर ईश्वर का प्रत्यक्ष कर लेता है, वह समस्त दुःखों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी मार्ग नहीं है।

(२) **''रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।''**

(तैत. उप.ब्र. ७)

वह ईश्वर आनन्द स्वरूप है, उस आनन्द स्वरूप को प्राप्त करके यह जीव आनन्दी होता है।

(३) **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे॥ (मुण्ड. २-२-८)

जो ईश्वर पर से भी पर और समीप से भी समीप है, उसके प्रत्यक्ष होने पर इस जीव के हृदय की अविद्या और संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और जो अशुभ कर्म के संस्कार हैं वे क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न - ईश्वर का साक्षात्कार करके जो जीव मोक्ष में चला जाता है वह पुनः संसार में जन्म लेता है वा नहीं ?

उत्तर - लेता है।

प्रश्न - छान्दो. के प्र. ८ खण्ड १५ में लिखा है कि : - **''न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते''॥** जीव मोक्ष को प्राप्त कर पुनः संसार में जन्म नहीं लेता।

उत्तर - उपनिषद् के इस वचन का यह अर्थ नहीं जो उपर किया गया है किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि जो मुक्ति का काल स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में ९ वें समु. में ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष लिखा है उतने काल के मध्य में जीव संसार में जन्म नहीं लेता। जिस उत्तम ज्ञान-कर्म-उपासना से मुक्ति मिलती है वह सीमित है अतः उसका फल भी सीमित होगा। यदि सीमित का फल असीम दे दिया जाये तो अन्याय हो जाये।

प्रश्न - जब मुक्त जीव का भी पुनर्जन्म होता है तो उस जन्म का कारण क्या है ?

उत्तर - उस मुक्त जीव के पूर्वकृत पाप और पुण्य उस जन्म के कारण हैं। (ऋ. मं. १ सू.२४ मं.२) के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने लिखा है **''अयमेव मुक्तानामपि जीवानां महाकल्पान्ते पुनः पाप-पुण्यतुल्यतया पितरि मातरि च मनुष्यजन्म कारयतीति च''**। कि वही मोक्ष पदवी को पहुँचे जीवों का भी महाकल्प के अन्त में फिर पाप-पुण्य की तुल्यता से माता-पिता और स्त्री आदि के बीच में मनुष्य जन्म धारण कराता है।

प्रश्न - जिस ईश्वर के प्रत्यक्ष से जीव को मोक्ष मिलता है उस ईश्वर के प्रत्यक्ष में क्या प्रमाण है ?

उत्तर - प्रत्यक्ष होता है। इसमें शब्द प्रमाण हैं-

(१) **'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'**। उस व्यापक परमात्मा के स्वरूप को विद्वान् जन सदा देखते हैं।

(२) **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'**॥ तैत्त-१, अर्थ - तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, तुझको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा।

(३) 'और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं, (सत्यार्थ प्र. ७ समु.) । यहां पर दोनों प्रत्यक्ष होते हैं इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर और ईश्वर के आनन्द ज्ञानादि गुण दोनों का प्रत्यक्ष होता है।

(४) 'वैसे अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा, परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है।' स. प्र. १२

प्रश्न - ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के साधन क्या हैं ?

उत्तर - शुद्ध ज्ञान-शुद्धकर्म-शुद्ध उपासना ये ईश्वर के प्रत्यक्ष करने के साधन हैं। **प्रथम साधन** - ईश्वर-जीव-प्रकृति के विषय में पृथक्-पृथक् व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये, केवल शाब्दिक ज्ञान नहीं। **दूसरा साधन**- निष्काम कर्म अर्थात् शुभ कर्मों को ईश्वर साक्षात्कार के लिये करना, लौकिक फल के लिये नहीं। **तीसरा साधन** - शुद्धोपासना है अर्थात् जैसी कि वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों में लिखी है। योगदर्शनकार ने

ईश्वर साक्षात्कार के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये साधन लिखे हैं। जो व्यक्ति ईश्वर का प्रत्यक्ष करना चाहता है वह इन सब का श्रद्धा पूर्वक मन, वचन, और शरीर से सर्वदा पालन करे। व्यवहार में यम-नियमों का पालन करे और आसन लगाकर प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करता हुआ समाधि तक पहुँचे। सम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् असम्प्रज्ञात में ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है।

प्रश्न - ध्यान करने की विधि क्या है ?

उत्तर - प्रथम ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होना आवश्यक है, जैसा कि वेद मंत्र में बतलाया गया है। उसके पश्चात् ईश्वर के नाम का ज्ञान होना भी आवश्यक है। नामी और नाम का ठीक ज्ञान प्राप्त करके, ध्यान करते समय उस नाम का अर्थ सहित पाठ किया जाता है। जैसे कि 'ओ३म्' यह ईश्वर का मुख्य नाम है, इसका एक अर्थ है 'सर्वरक्षक'। ध्यान काल में तीन कार्य करने होते हैं -

(१) ओ३म् आदि वाक्यों का बार-बार उच्चारण करना।

(२) वाक्य का जो अर्थ है उसका विचार करना, अन्य विषय का नहीं।

(३) ईश्वर समर्पण, जो भावना कहलाता है।

योग दर्शन में प्रथम ईश्वर का स्वरूप समाधिपाद के २४ वें सूत्र में बतलाया, पुनः २७ वें सूत्र में नाम बतलाया और फिर जप की विधि बतलाई कि - "**तज्जपस्तदर्थभावनम्**" (यो. १-२८) उस ओ३म् का जप करना और उसके साथ अर्थ का विचार करना। विधिपूर्वक जप करने का योग दर्शन (१-२९) में लाभ भी बतलाया कि जप करने से अपने स्वरूप का और ईश्वर के स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है तथा (यो. दर्शन. १/३०, ३१) में बतलाये गये व्याधि आदि विघ्नों का निवारण भी होता है। ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव को ठीक प्रकार से न जानकर जप करने से विशेष लाभ नहीं होता। जप करनेवाले व्यक्ति का आचरण भी ईश्वर की आज्ञानुसार होना चाहिये तब पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। अन्यथा नहीं।

प्रश्न - ईश्वर का गुण-कर्म-स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - आर्य समाज के दूसरे नियम में ईश्वर का गुण-कर्म-स्वभाव वर्णित है। ईश्वर को वैसा जानकर उसका ध्यान किया जाता है।

प्रश्न - ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो क्या वह सब कुछ कर सकता है ?

उत्तर - जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है, ऐसा मानने वालों से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या ईश्वर स्वयं को मारकर अपने जैसा दूसरा ईश्वर बना सकता है ? इस प्रश्न का उनके पास कोई उत्तर नहीं है। क्योंकि यह कार्य असम्भव है। सर्वशक्तिमान् का वास्तविक अर्थ यह है कि अपने नियम में रहते हुए उपादान कारण की विद्यमानता में बिना दूसरों की सहायता के अपने कार्यों को स्वयं कर लेना। जैसे कि प्रकृति संसार का उपादान कारण है। ईश्वर उससे भूमि, शरीर आदि समस्त जगत् को बनाता, संचालन करता तथा प्रलय करता है और जीवों को उनके कर्मों का फल भी देता है। इन कार्यों के करने में किसी की सहायता नहीं लेता, अतः सर्वशक्तिमान् है।

प्रश्न - ईश्वर न्यायकारी भी है और दयालु भी है, इसमें परस्पर विरोध मालूम होता है।

उत्तर - इसमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। जैसे कि किसी चोर ने चोरी की, राजा ने उसे कारागार में डालकर दण्ड दिया। यह चोर के साथ 'न्याय' हो गया और चोर को दण्ड देने से सैकड़ों लोगों का दुःख दूर हो गया, यह उन लोगों पर दया हो गई। एक बालक बुरा काम करता है, माता-पिता ने उसको उचित दण्ड देकर बुरे कर्म से हटाकर उत्तम कर्म में लगा दिया। ऐसा करने से बालक के साथ न्याय भी हो गया और दया भी हो गई। यदि ईश्वरोपासक के मन में कभी ऐसे संशय उत्पन्न हो जायें तो उनका समाधान कर लेना चाहिये।

प्रश्न - बहुत लोग मानते हैं कि ईश्वर शरीर धारण करता है। तो क्या ईश्वर की मूर्ति बनाकर ध्यान करना ठीक नहीं ?

उत्तर - ठीक नहीं है। क्योंकि वेद में ईश्वर को 'अकायम्' अर्थात् सब प्रकार के शरीरों से रहित बतलाया है। ईश्वर की मूर्ति बनाकर ईश्वर का ध्यान किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जब ध्यान करने वाला मूर्ति को देखेगा तो मूर्ति दिखाई देगी, ईश्वर का ध्यान भङ्ग हो जायेगा और जब ध्यान करनेवाला ईश्वर का ध्यान करेगा तब मूर्ति दिखाई नहीं देगी। जब ईश्वर कभी शरीर धारण नहीं करता तो उसको शरीरधारी अवतार आदि के रूप में मानकर उसका ध्यान करना अनुचित ही है।

वैदिक धर्म में जो ईश्वर का स्वरूप वर्णित किया गया है वही वास्तविक है, अन्य नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में मन में रख कर उसकी जो खोज की जाती है, उसी का नाम ध्यान है। जब ईश्वर निराकार है तो कोई व्यक्ति लाखों जन्मों तक भी उसको साकार मानकर गवेषणा करे तो भी उसका साक्षात्कार नहीं कर सकेगा।

वैदिक ईश्वर की दृष्टि में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब पुत्र के तुल्य हैं, सभी एक समान हैं। ईश्वर सभी प्राणियों का एक ही है अनेक नहीं; एक ही प्रकार का है अनेक प्रकार का नहीं। ईश्वर की आज्ञा का पालन करना सब का एक ही धर्म है, अनेक नहीं। मुक्ति और मुक्ति के साधन सब के लिये एक समान ही हैं, भिन्न प्रकार के नहीं।

यदि संसार के समस्त लोग वैदिक ईश्वर को जान कर उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें व व्यवहार भी उसकी आज्ञानुसार करें तो सब समस्याएँ हल हो जायें।

परमात्मा अद्वितीय है। जिससे बड़ा वा तुल्य न हुआ, न है, और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहते हैं।

परमात्मा जगत् का आत्मा है। वह आत्मा का भी आत्मा है क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर, बाहर तथा मध्य में सदा विद्यमान है। अर्थात् एक तिल मात्र भी उसके बिना खाली नहीं है।

मान्यता से स्वरूप नहीं बदलता – कई कहते हैं कि आप ईश्वर को मानो, हम नहीं मानते। आप सत्य बोलो, हम नहीं बोलते। इससे क्या अंतर पड़ता है ? सब अपने–अपने विचार, मन की मान्यता से ठीक हैं। सब अपने–अपने विश्वास की बात है। तुम चोरी–हिंसा में पाप समझते हो, हम नहीं। सब का अलग धर्म हो, इसमें क्या हर्ज है ? आप निराकार को मानते हैं हम मूर्ति को, आप ईश्वर–जीव–प्रकृति को मानते हैं, हम अहं ब्रह्मास्मि को। सब अपने धर्म की मान्यता का पालन करते हैं इस में क्या हर्ज है कुछ भी मान सकते हैं ? ''**परन्तु याद रखें किसी के मानने न मानने से वस्तु का स्वरूप नहीं बदलता**''। सृष्टि के आदि में ईश्वर जैसा था वैसा आज भी है। जीव – प्रकृति जैसे आदि में थे वैसे आज भी हैं। सत्युग, कलियुग आदि के कारण कभी पदार्थ का स्वरूप वा सत्य का स्वरूप नहीं बदलता।

ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान–विवेक न होने से आज नास्तिकता बढ़ रही है। ईश्वर पर श्रद्धा समाप्त होती जा रही है।

सामान्य प्रश्न – क्या आप ईश्वर को मानते हैं ?

उत्तर – छोड़िये जी इन बातों में क्या रखा है ? क्या बिना इसके रोटी नहीं पचती ? क्या ईश्वर रोटी, कपड़ा, मकान और नौकरी देगा ? क्या नास्तिक नहीं जीते, सुखी नही हैं ? बल्कि ज्यादा सुखी हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक बेकन, बुकनिन आदि ने कह दिया कि अब ईश्वर की आवश्यकता नहीं। यदि ईश्वर है तो उसे नष्ट कर देना चाहिये। कार्ल मार्क्स ईश्वर–धर्म को अफीम कहते हैं। धर्म व ईश्वर के बारे में अवैज्ञानिक उलटी मान्यताएँ पाश्चात्य देशों के मत–सम्प्रदायों–मजहबों में हैं। ऐसे धर्म के नाम पर मानव समाज का जितना संहार हुआ उतना अन्य युद्धादि कारणों से नहीं हुआ। वहाँ के आस्तिक जगत के पास नास्तिक लोगों के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। उनके सभा मन्दिर पूजा स्थानों पर बोर्ड लगा होगा ''धर्म पर प्रश्न न करें'' ''किसी पर आक्षेप न करें'' ''अन्य की निन्दा न करें''॥ जब तक आस्तिकों के पास इन सामान्य आक्षेपों का उत्तर नहीं तब तक धर्म सुरक्षित नहीं।

आक्षेप १. – संसार में अव्यवस्था है।

उत्तर – यह अव्यवस्था ईश्वर की नहीं। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र होने से मनुष्य द्वारा पैदा की गई है। घर में माता–पिता होने पर बच्चे शोर नहीं मचाते, न होने पर मचाते हैं। परन्तु श्रेष्ठ धार्मिक माता–पिता के बच्चे दुष्ट, चोर, शराबी हों तो मां–बाप की आज्ञा नहीं मानते। जैसे राजा–अधिकारी होते हुए भी चोर–डाकू हैं, उसी प्रकार ईश्वर के होते हुए भी अधर्मात्माओं के कारण संसार में अव्यवस्था है।

आक्षेप २. – ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। संसार अपने आप बन गया, जैसे जंगल के वृक्ष, हिमालय में जड़ी–बूटियाँ आदि।

उत्तर – यह एक तरफी अमान्य धारणा है। (प्रतिज्ञा)संसार में कोई कार्य अपने आप नहीं हो सकता। (हेतु) बिना कर्त्ता के कोई कार्य नहीं होता। (उदाहरण) जैसे मकान आदि बिना कर्त्ता के नहीं बन सकते वैसे जड़ी–बूटी–घास आदि भी। जो जड़ वस्तु पड़ी है वह बिना हिलाये पड़ी ही रहेगी। जड़ परमाणु स्वयं जुड़ या विखण्डित नहीं हो सकते।

आक्षेप ३. – ईश्वर सब को आनन्दित क्यों नहीं करता ?

उत्तर – ईश्वर उसे आनन्द देता है जो उसकी आज्ञानुसार चलता है तथा उसका सेवन (उपासना) करता है। सब के पास टी.वी होते हुए भी जो चैनल ऑन करता है उसे ही प्रसारण दीखता है। यदि मधु में डूबा हूआ मनुष्य मुंह बन्द रखे तो मधु की मिठास नहीं पा सकता।

आक्षेप ४. – नास्तिक अधिक सुखी दीखते हैं।

उत्तर – कर्म फल दाता ईश्वर न्यायकारी है, कोई भी उचित परिश्रम करेगा तो वह ईश्वरीय व्यवस्था से परिणामतः भौतिक सुख पायेगा। यदि साथ में आस्तिकता होगी तो ईश्वर प्रदत्त विशेष मानसिक आनन्द-शान्ति आदि भी मिलेगी। अव्यावहारिक आस्तिक जो कामचोर है, आलसी है उसे भौतिक सुख भी नहीं मिलेगा। आध्यात्मिक उच्च स्तर के सुख की तो बात दूर रही। सच्चे आस्तिक से नास्तिक को अधिक सुख कभी भी नहीं हो सकता यह सिद्धान्त है। वैदिक (वैज्ञानिक) षड्दर्शन के तार्किक ज्ञान द्वारा ही राष्ट्र विघातक, संस्कृति विनाशक नास्तिकों को मुंह तोड़ उत्तर दिया जा सकता है।

ईश्वर – एक ऐसी वस्तु है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि नहीं फिर भी वह एक वस्तु-चीज-पदार्थ है। यदि ईश्वर की सत्ता में विश्वास, दृढ श्रद्धा नहीं तो योगाभ्यास द्वारा किस की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करेंगे ? स्वयं आत्मा में रूप-रंग नहीं, फिर भी हम उसकी अनुभूति करते हैं कि हम वस्तु हैं। हममें ज्ञान, बल, चेष्टा, सामर्थ्य है। इसी प्रकार ईश्वर भी पदार्थ है जो ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुण युक्त सर्वत्र विद्यमान है। कोई श्रद्धा रखे न रखे, माने न माने पर ईश्वर गुणवाला सत्तात्मक पदार्थ है। भावात्मक वस्तु को लाखों-करोड़ों मानना बन्द कर दें तो भी उसका भाव रहेगा और जिसका अभाव है उसे सभी मानने लगें तो भी उसका भाव (विद्यमानता) नहीं होगा। समाज में इतनी अधिक बुराइयाँ इसलिये हैं कि हम ईश्वर को सत्तात्मक पदार्थ नहीं मानते, नहीं जानते, व तदनुसार व्यवहार नहीं करते। ईश्वर की (वेदोक्त) आज्ञाओं का पालन नहीं करते। जैसे असत्य न बोलें, अन्याय न करें, पक्षपात आदि न करें। ईश्वर हमें ज्ञान, बल, आनन्द, धैर्य आदि दे सकता है, पर विश्वास ही नहीं तो कैसे प्राप्ति हो ?

भ्रान्ति दर्शन

भ्रान्ति दर्शन – विपरीत – मिथ्या- उलटा ज्ञान। आज ईश्वर के सम्बन्ध में व्यापक रूप से लोगों में मिथ्याज्ञान व्याप्त है।

शरीरधारी ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता तो सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता, तो फिर सर्वशक्तिमान् भी नहीं हो सकता, तो सृष्टि कर्त्ता भी नहीं बन सकता। अतः शरीरधारी के रूप में ईश्वर दीखना यह भ्रान्ति दर्शन है। ईश्वर दर्शन नहीं।

ध्यान-उपासना में दीखते हुए सितारे, चमक, प्रकाश, यह सब भौतिक प्रकाश ईश्वर नहीं हो सकते, परन्तु जो ईश्वर को प्रकाश स्वरूप कहा है वह ज्ञान का प्रकाश है। यह सूर्य आदि का प्रकाश नहीं। अविद्या का दूसरा नाम तम। जैसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे ईश्वर ! हमें तम अर्थात् अंधकार (अविद्या) से प्रकाश (विद्या) की ओर ले चलो क्योंकि आप में अज्ञान का लेश मात्र भी नहीं है, आप ज्ञानस्वरूप हैं। सो प्रभु में भौतिक प्रकाश नहीं परन्तु ज्ञान का प्रकाश है। यदि सूर्य जैसा भौतिक प्रकाश मान लें तो ईश्वर के सर्वव्यापक होने से सृष्टि में कही अन्धेरा नाम की वस्तु ही न रहेगी। परन्तु देखते हैं कि जहाँ सूर्य है वहीं यह भौतिक प्रकाश है, जहाँ नहीं वहाँ अन्धेरा है। यह ठीक है कि ईश्वर ने इस सूर्य को भौतिक प्रकाश दिया है। ईश्वर प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व-रज-तम) के संमिश्रण से सूर्य आदि को प्रकाश वाला बनाता है। जैसे उसने प्रकृति से हमारा शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि बनाये हैं।

ईश्वर विषयक भ्रान्तियाँ

(१) ईश्वर एक स्थान में रहता है, जैसे वैकुण्ठ, परमधाम, चौथे-सातवें आसमान आदि में।

(२) ईश्वर शरीरधारी है, अवतार लेता है।

(३) ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

(४) ईश्वर बिना कर्मों के सुख-दुःख देता है।

(५) ईश्वर जो कुछ चाहे कर सकता है।

(६) सब कुछ ईश्वर ही करवाता है।

(७) ईश्वर में से ही यह संसार बना है।

(८) ईश्वर में कोई इच्छा नहीं है।
(९) ईश्वर निराकार भी है, साकार भी है।
(१०)ईश्वर आँखों से दिखाई देता है।
(११)जीव ही ईश्वर बन जाता है।
(१२)ईश्वर भविष्य की सारी बातों को जानता है।
(१३)ईश्वर का एक अंश ही जीव है।

वैदिक धर्म में जीवात्मा का स्वरूप

जीवात्मा (स्वयं) के ज्ञान की आवश्यकता :-

जो जीवात्मा ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, वह अपनी शक्ति, गुण, स्वरूप को जाने बिना ईश्वर को नहीं जान सकता। जब व्यक्ति शीशे में देखता है तो विचारता है कि मैं पुरुष वा स्त्री हूँ। काला, गोरा, नाटा, बालक, वृद्ध हूँ। यह मिथ्या ज्ञान है। परन्तु मैं स्त्री, पुरुष आदि शरीर वाला हूँ यह विचार करना चाहिये। आज व्यक्ति ने पृथ्वी का चप्पा-चप्पा खोज मारा, चन्द्रमादि ग्रहों तक पहुँच गया है; प्राकृतिक (भौतिक) अनेक पदार्थों को जान लिया है, परन्तु स्वयं के बारे में मानव को बहुत अल्पज्ञान है।

परिभाषाएँ व सिद्धान्त बदल जाने से विचार और व्यवहार बदल जाते हैं। कुरान-बाईबल में आत्मा के बारे में बहुत कम बातें लिखी हैं। जो लिखी हैं वे भी प्राय: गलत हैं। जैसे मनुष्य को छोड़कर किसी में आत्मा नहीं मानी। स्त्री में पूरी आत्मा मानते ही नहीं। पाकिस्तान में स्त्री को आधी आत्मायुक्त मानने से उसे चुनाव में आधे वोट का अधिकार है।

अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के बारे में हमारा जैसा व्यावहारिक ज्ञान है, वैसा आत्मा के बारे में भी हो। मुझ आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती इतना समझ लेने मात्र से कितनी शक्ति व निर्भयता आ जाती है। दयानन्द पर विष प्रयोग हुआ, मतीदास को चीरा गया, वैरागी की खाल नुचवायी गई, गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे दीवार में चिनवाये गये, कोई कढ़ाई में तले गये, परन्तु उन्होंने आत्मा का सच्चा नित्य स्वरूप जानकर कहा कि हमारे आत्मा का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उन्होंने अपने अनित्य शरीर को आत्मा नहीं माना। आत्मा को जानकर व्यक्ति महान् सामर्थ्यवान् हो जाता है। यह वास्तविक ज्ञान के कारण है।

जीवात्मा का कोई रंग-रूप नहीं, कोई भार नहीं है। जैसे भौतिक वस्तुओं में रंग, रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि गुण पाये जाते हैं वैसे जीवात्मा में नहीं हैं।

एक रोचक बात; एक पुस्तक है "५०१ आश्चर्यजनक तथ्य" उसमें जीवात्मा का भार लिखा है कि जीवात्मा २१ ग्राम का है। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया। मरते हुए एक व्यक्ति को एक बक्से में बन्द करके तुला में तोला गया। थोड़े काल में वह मर गया अर्थात् आत्मा निकल गई उसे फिर तोला गया तो २१ ग्राम भार कम हुआ। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि जीवात्मा २१ ग्राम का है। अब इस २१ ग्राम में कितनी चींटियाँ समा जायेंगी ? हजारों...। कितना अज्ञान है आत्मा के विषय में।

जैनी लोग कहते हैं कि आत्मा घटता-बढ़ता है। हाथी में जायेगा तो बढ़ जायेगा, चींटी में जायेगा तो घट जायेगा।

सत्य वैदिक सिद्धान्त यह है कि जीवात्मा अपरिणामी होने से घटता-बढ़ता नहीं है व अभौतिक वस्तु होने से स्थान नहीं घेरता। एक सुई की नोक में विश्व के सभी जीवात्मा समा सकते हैं।

जीवात्मा की सिद्धि

(१) दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। (न्याय द. ३-१-१) एक ही सेव को नेत्र से देखते, नाक से सूँघते, त्वचा से स्पर्श करते हुए जो सब से सम्बन्धित रहता है उसी को आत्मा कहते हैं। इन्द्रियाँ तो एक-एक ही विषय को जान सकती हैं अत: सब को तो केवल आत्मा ही जान सकता है।

(२) इन्द्रियान्तरविकारात्। (न्याय द. ३-१-१२) हमने कभी नीबू खाया था, मिष्टान्न खाया था। बहुत स्वादिष्ट था। कालान्तर में वही भोग्य वस्तु (नीबू, मिष्टान्न) दिखाई दी तो मुंह में पानी भर आया। देखा आँखों से, लार आई मुंह में। अत: इन दोनों को जोड़ने वाला हमारे शरीर में है, वह जीवात्मा है।

(३) सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्। (न्याय द. ३-१-७) हम दोनों आंखें बन्द करते हैं। एक नई वस्तु को बाँयी आँख से देखा, उसी को दाँयी से देखा और ज्ञान बन रहा है कि जिसको बाँयी आँख से देखा था उसी वस्तु को दूसरी दाँयी आँख से देखा। इस ज्ञान को जोड़ने वाला आत्मा है।

(४) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगम् (न्याय द. १-१-१०) ईच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान जिस वस्तु में हों वहाँ आत्मा की सिद्धि होती है।

(५) षष्ठीव्यपदेशादपि । (सांख्य द. ६-३) मेरी आँख, मेरा कान, मेरा नाक, यह स्वामित्त्व भावना वाला आत्मा है।

(६) देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् । (सांख्य द. ६-२) आत्मा के लक्षण शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न प्रकार के होने से वह इन शरीर, इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त (=भिन्न=पृथक्) है।

(७) अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् । (वैशे.द.३-२-९) "मैं हूँ" यह प्रत्यक्ष अनुभव है सो सिद्ध होता है कि आत्मा है। "मैं हूँ" की अनुभूति यह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

(८) अनुमान प्रमाण - इन्द्रियों के विषय बन्द करके फिर स्थिर आसन में शरीर की अनुभूति भी बन्द होने पर जब विचार भी समाप्त हो जायें तो जो शेष रहे वह "मै हूँ" आत्मा है।

जीवात्मा का गुण, कर्म, स्वभाव व स्वरूप

(१) आत्मा एक सत्तात्मक चीज है, वस्तु है, पदार्थ है, द्रव्य है क्योंकि उसमें गुण हैं। जिसमें क्रिया हो, गुण हो अथवा केवल गुण हो; गुणों को धारण करने वाला द्रव्य-पदार्थ-वस्तु कहलाता है। यह जरूरी नहीं कि जो जगह घेरे और ठोस हो वही द्रव्य हो। अत: प्रकृति के साथ साथ जीव-ईश्वर भी वस्तु हैं।

गुण - आत्मा के नैमित्तिक और स्वाभाविक दोनों गुण हैं। स्वाभाविक गुण, ज्ञान, प्रयत्न आदि। नैमित्तिक गुण सुख, दु:ख आदि। "मै हूँ" इतना ज्ञान अर्थात् अपने अस्तित्त्व का ज्ञान ही स्वाभाविक है शेष चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नैमित्तिक है।

कर्म - ईश्वर प्रदत्त उपकरणों के बिना जीव का सामर्थ्य निरुपयोगी है । जीव मोक्ष में बिना प्राकृतिक साधनों के ईश्वर के सामर्थ्य से मोक्ष-सुख अनुभव करता है। जब शरीर से अलग आत्मा की अनुभूति होती है तो पाप कम हो जाते हैं। शक्तियाँ व्यर्थ नहीं जातीं। जीवन बदल जाता है। इतनी शक्ति आ जाती है कि सामने विषय होते हुए भी उसका भोग नहीं

करता। उसमें सुख-दु:ख की अनुभूति नहीं करता। ज्ञान तो होता है पर सुख की अनुभूति नहीं करता। यह तभी सम्भव है जब हम आत्मा के स्वरूप को पहचानें।

(२) जीवात्मा का स्वरूप :- जीवात्मा नित्य, अनादि, काल की दृष्टि से अनन्त, निर्विकार, निराकार, अल्पज्ञ, एकदेशी, अल्पशक्तिमान् है। तात्त्विक दृष्टि से अविकारी है।

मनुष्य की देह जड़ है और आत्मा चेतन है। इच्छा, प्रयत्न, ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं। कर्तृत्व उसकी शक्ति है। अहंज्ञान उसका स्वरूप बोधक है। जीवात्मा भी अनादि है और मोक्ष प्राप्त करना उसके पुरुषार्थ का लक्षण है। उसकी शक्ति परिमित है। स्वभाव से अपूर्ण है। वह कर्मानुसार अनेक लोकों में भ्रमण करता है और मुक्त होकर परमात्मा में विश्राम करता है।

(३) शरीर में रहता कहां है ?- जीवात्मा स्थान विशेष हृदय में रहता है। कई मानते हैं मस्तिष्क स्थित हृदय में और कई वक्ष स्थल के मध्य । महर्षि दयानन्द जी ने वक्षस्थलवाला हृदय कहा है। दो स्तनों के बीच, कण्ठ से नीचे नाभि से ऊपर हृदय प्रदेश में। उपनिषद् में ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवात्मा का स्थान एक न होकर अनेक हैं। महर्षि दयानन्द ने कहा है जीवात्मा को सुख-दु:ख भोगने के लिये कई स्थान ईश्वर ने बनाये हैं। स्थान विशेष में ईश्वर ने बाँधा नहीं, पर जब तक जीवन रहता है तब तक शरीर के साथ रहता है। इसका संकेत ब्रह्मोपनिषद् के एक प्रकरण में आया है कि जीव के शरीर में तीन स्थान हैं। जागृत अवस्था में आँखों में। हम एक दूसरे को, तथा पशु भी आंखों में देखते हैं। स्वप्न में कण्ठ में और सुषुप्ति काल में हृदय में रहता है । अनेक सम्प्रदाय जैसे ब्रह्माकुमारी मानते हैं कि सब योनियों के अलग अलग प्रकार के जीवात्मा हैं, कुत्ते का आत्मा सदा कुत्ता ही रहेगा (जन्मेगा)। परन्तु यह वेद और ऋषियों से उलटी मान्यता है। सब जीवात्माएँ एक ही प्रकार की हैं परन्तु कर्मानुसार अलग-अलग योनियों को प्राप्त होती हैं।

प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण पर मतभेद होने पर केवल अनुमान प्रमाण ही वस्तु को शत प्रतिशत सत्य सिद्ध करने में समर्थ होता है। यदि पूर्णरूप से सिद्ध न करे तो वह अनुमान प्रमाण नहीं, वह सम्भावना कहलायेगा।

(४) नित्यता :- जीव व ईश्वर 'कूटस्थ नित्य' और प्रकृति 'परिणामी नित्य' है।

(५) लिंग : - जीवात्मा में स्त्री, पुरुष वा नपुंसक लिंग भेद नहीं है।

(६) आकार :- बहुत ही सूक्ष्म अणुरूप है। इतना सूक्ष्म जीव हाथी जैसे बड़े शरीर और अतिसूक्ष्म जीवाणु के शरीर को चला लेता है। आत्मा अभौतिक है वह हजारों स्टील की परतों को भी पार कर सकता है।

(७) क्या जीवात्मा जन्म लेता और मरता है ? जीवात्मा न जन्म लेता है न मरता है वह अजर है, अमर है, नित्य है। अनादि, अनन्त है। जब जीवात्मा का सम्बन्ध शरीर से होता है तो कहते हैं जन्म; शरीर छोड़ता है तो मृत्यु।

(८) जीवात्माओं की संख्या कितनी हैं ? :- जीवात्माएँ अनन्त हैं । हम जीवात्माओं की संख्या की परिगणना नहीं कर सकते। केवल एक भवन में कितने मच्छर, मकड़ी, चींटी हैं और सब भवनों में कितनी हैं कोई गणना कर सकता है ? कोई नहीं कर सकता। किन्तु ईश्वर जानता है। ईश्वर की गणना में जीवात्मा सीमित हैं। हमारे लिये असीमित हैं।

(९) जीवात्मा के शरीर कितने हैं ? कारण, सूक्ष्म और स्थूल तीन हैं। कारण शरीर 'प्रकृति' सब का समान है। सूक्ष्म शरीर १८ तत्त्वों का सृष्टि के आदि में मिलता है। जब तक मुक्ति या प्रलय न हो जाये तब तक रहता है । यह १८ तत्त्व प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहते हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रायें, १ मन, १ अहंकार और एक बुद्धि। किन्हीं प्राणियों में भले ही गोलक न हों, पर इन्द्रियाँ रहती हैं। जैसे सांप के पैर भले ही न हों, पर पाद कर्मेन्द्रिय होती है।

(१०) आत्मा की शरीर में कितनी अवस्थाएँ हैं ? - आत्मा की शरीर में चार अवस्थाएँ हैं। एक जाग्रत, दूसरी स्वप्न, तीसरी निद्रा (सुषुप्ति) और चतुर्थ तुरीय जो कि समाधि अवस्था है।

(११) जीवात्मा के शरीर में कोष कितने हैं ? - जीवात्मा के शरीर में पांच कोष हैं। ये पांच अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं।

(१२) क्या जीवात्माओं में भेद हैं ? - नहीं, सब जीवात्माएँ समान हैं। स्वरूप व स्वभाव से कोई भेद नहीं। भेद का कारण न्यूनाधिक ज्ञान-विज्ञान, संस्कार व कर्म हैं।

(१३) जीवात्मा में शक्तियाँ कितनी हैं ? - जीवात्मा में २४ प्रकार की शक्ति देखने, सुनने, विचारने, निर्णय लेने आदि की हैं। जीवात्मा मुक्ति में ईश्वर प्रदत्त ज्ञान से आनन्द लेता है।

(१४) जीवात्मा शरीर धारण क्यों और कब तक करता है ? - जीवात्मा नये कर्मों को करने और किये कर्मों का फल पाने के लिये शरीर धारण करता है। कब तक करता है ? जब तक अविद्या रहती है। जन्म-मरण का चक्कर अविद्या के कारण है। ईश्वर के सानिध्य से अज्ञान समाप्त हो जाये तो आवागमन का चक्कर भी समाप्त।

(१५) जीव की मुक्ति और बन्धन क्या है ? दु:खों से छूट जाना मुक्ति है **''ज्ञानान्मुक्ति, बन्धो विपर्ययात्''** जब जीवात्मा अज्ञानी होता है तो बद्ध हो जाता है और ज्ञानी होने पर मुक्त। जब प्रकृति से छूटता है तो दु:ख उत्पन्न नहीं होता, वह ईश्वर के सानिध्य में रहता है। जो व्यक्ति अपने अविद्या के संस्कारों को दग्धबीज भाव में पहुंचा देता है वह मुक्ति में पहुँचता है। बचे हुए शेष कर्मों के फलस्वरूप मुक्ति के बाद फिर मनुष्य योनि प्राप्त होती है।

(१६) मुक्ति कितने समय तक रहती है ? ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष तक जीवात्मा मुक्ति के आनन्द को भोगता है।

(१७) एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर पाने में कितना समय लगता है ? बहुत थोड़ा काल लगता है। उपनिषद् में है कि ''जैसे एक कीड़ा अपने एक पांव को उठाकर आने वाले स्थान में रखता है उतना काल लगता है''। प्रत्येक दिन, प्रत्येक घण्टे, प्रत्येक निमिष काल में ब्रह्माण्ड में प्राणी लगातार उत्पन्न होते रहते हैं। कुछ अपवाद भी हैं। कोई महान् जीवात्मा जिसे महान् घर में जन्म लेना है, यदि ऐसा परिवार उस समय नहीं है तो उस जीवात्मा को थोड़े काल के लिये ईश्वर अपनी व्यवस्था में रखेगा । फिर उसे योग्य परिवार मिलने पर जन्म देगा।

(१८) क्या जीवात्मा अपनी इच्छा से एक शरीर को छोड़ बाहर जा सकता है ? नहीं। ईश्वर ने इस शरीर से ऐसा बांध दिया है कि जब तक शरीर नष्ट-भ्रष्ट न हो जाये नहीं निकलेगा।

(१९) शरीर के अन्दर कर्त्ता कौन और भोक्ता कौन है ? एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है, लोग शरीर को ही कर्त्ता मान लेते हैं। पर नहीं, आत्मा कर्त्ता है, भोक्ता भी वही है। मन, शरीर आदि नहीं। फिर भोजन कौन खाता

है ? न केवल शरीर खाता है न केवल आत्मा खाता है। हम चाहे कितना ही खायें आत्मा तो उतना ही रहता है। और केवल शरीर भी आत्मा के बिना नहीं खा सकता। जिस शरीर में जीवात्मा है वह अपने उस शरीर की रक्षा के लिये अपने शरीर को खिलाता है। पर सुख-दुःख की अनुभूति जीवात्मा करता है।

(२०) प्रलय में जीवात्मा की स्थिति क्या होती है ? प्रलय में बद्ध जीवात्मा मूर्च्छित अवस्था (बेहोशी) में रहते हैं और जो मुक्त जीवात्मा हैं वो आनन्द में रहेंगे।

(२१) मृत्यु समय शरीर कैसे छोड़ता है ? कोई कहते हैं कि मृत्यु होने पर जीवात्मा कान से, आँख से, मुंह आदि से अथवा सिर फोड़ के निकलता है। यह ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा बहुत ही सूक्ष्म है, वह कहीं से भी निकल जायेगा। उसके लिये कोई अवरोधक नहीं, कहीं से भी जा सकता है।

(२२) क्या एक जीवात्मा दूसरे के द्वारा किये कर्मों का फल प्राप्त करता है ? नहीं, किंचित् मात्र भी नहीं। दूसरे के किये हुए कर्मों का फल नहीं भोगता, लेकिन दूसरे के किये हुए कर्मों से सुख-दुःख भोगता है।

(२३) क्या जीवात्मा ईश्वर का अंश है ? नहीं। जीवात्मा ईश्वर में रहता है, परन्तु अंश नहीं है। अगर यह ईश्वर का अंश होता तो सदा आनन्दित होता। मूर्ख-अज्ञानी नहीं होता।

(२४) क्या जीव और ईश्वर में समानता है ?

उत्तर - साधर्म्य गुणों से जीव और ईश्वर में समानता है, और वैधर्म्य गुणों से दोनों में भेद भी है।

समानता - दोनों नित्य, निराकार, अपरिणामी और निरवयवी हैं

दोनों में भेद

जीव	**ईश्वर**
एक देशी	सर्वव्यापक
अल्पज्ञ	सर्वज्ञ
अल्पशक्तिमान्	सर्वशक्तिमान्
क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से सहित	क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से रहित

जीवात्मा तथा शरीर सम्बन्धी ज्ञान

मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को जाने बिना न तो स्वयं पूर्णरूपेण सुखी हो सकता है न अन्यों को कर सकता है। आज करोड़ों व्यक्ति पशु-पक्षी की आत्मा को आत्मा ही नहीं समझते। किसी वस्तु से सम्बन्धित परिभाषा बदल जाने से व्यवहार बदल जाते हैं। इस उलटे ज्ञान से आज पशु-पक्षियों के साथ अनर्थ, उनका विनाश हो रहा है। हम भी शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं, यह हमारा अज्ञान है।

विश्वविद्यालयों में अनेक विषय पढ़ाये जाते हैं पर आत्मा का विषय नहीं पढ़ाया जाता। जिस अज्ञान के कारण पशु-पक्षी दुःखी रहते हैं उससे स्वयं मानव भी दुःखी व अशान्त है। उसे कहीं चैन नहीं पड़ रहा, चाहे भौतिक उन्नति कितनी ही क्यों न कर ली हो।

जीवात्माएँ स्वरूप से सब समान हैं, पर कर्मानुसार अलग अलग योनि मिलती है। मस्तिष्क हमारे अंतःकरण मन का कार्यालय (गोलक) है। मुमुक्षु व्यक्ति मन को प्रकृति की सड़क से मोड़कर ईश्वर की राह पर मोड़ देता है।

शरीर के विषय में जब तक हमारा ज्ञान व्यावहारिक, क्रियावाला, जीवन में नहीं उतरता तब तक फलदायी नहीं होता जैसे बिजली के तार को छूना = मरना है। जहर लें या सर्प काटे तो मृत्यु का भय होना यह व्यावहारिक ज्ञान होने से व्यक्ति इनसे बचता है। शरीर के विषय में यह अयथार्थ ज्ञान है कि यह शरीर न बूढ़ा होगा न मरेगा ही। यह नित्य, पवित्र, चेतन मात्र सुखदायी है, ऐसा मानकर इससे प्यार-मोह करना अज्ञान (अविद्या) दोष है।

यथार्थ ज्ञान - यह सुन्दर दिखने वाला शरीर गन्दगी का घर है। इसमें से प्रत्येक क्षण पसीना आदि मल निकलते रहते हैं। मुख में हलवा डाल कर कुछ देर रखने के बाद निकालने पर देखने को मन न हो। जहाँ यह उल्टी करे वहाँ कोई बैठे भी नहीं। शुद्ध वायु ली, छोड़ने पर विषैली गन्दी। शरीर की चमड़ी हटाने पर क्या उसे देखने, चूमने को लालायित होगा ? क्या सुन्दर बाल खाने में लेंगे ? ईश्वर की कृपा है कि अपनी माया से इस शरीर को

सुन्दर चमड़ी से ढका हुआ है। इसके अन्दर मांस मज्जा, नसों के जाल, कंकाल व मल भरे हैं। कुष्ठ, चेचक आदि रोग होने पर किसके मन को भायेगा। विवेक होने पर शरीर के प्रति आसक्ति समाप्त हो जायेगी। कितना ही सुन्दर शरीर क्यों न हो, मृत्यु होने पर कोई छूना भी नहीं चाहेगा।

शरीर से उपयोग लेना है, पर यह भोग्य नहीं है। इससे ईश्वर प्राप्ति करनी है। इसमें आसक्त न होकर त्यागपूर्वक भोग करना है। स्वाध्याय, सत्संग, अभ्यास छोड़ देने से निश्चयात्मक ज्ञान भ्रमात्मक या अभावात्मक में बदल जाता है। अनभ्यास के कारण विवेक दबकर चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि को ठीक मानने लग जाता है। सुन्दर कपड़ों में सुन्दर शरीर पर आसक्त डाक्टर को उसी सुन्दर शरीर का आपरेशन करते समय वासना नहीं उभरती। वहाँ उसका विवेक काम करता है। वस्तु को गहराई से जानकर ज्ञान को दृढ़ बना लें।

जीव-ईश्वर-सम्बन्ध

लोक (संसार) में मानव जो कार्य करता है दूसरे से सम्बन्धित होकर करता है। अपने अकेले से कुछ भी कार्य स्वतन्त्र रूपेण नहीं कर सकता। संसार में जो व्यक्ति अपने से सम्बन्धित लोगों को जानकर, उनसे उचित व्यवहार करता है वह सफल होता है। यदि गुरु-शिष्य का उचित सम्बन्ध नहीं है तो विद्या नहीं सीखी जाती है जो स्वयं से भी उचित व्यवहार नहीं करना जानता, वह सफल नहीं हो सकता।

आत्मा को आवश्यकता है ईश्वरानन्द की। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, वही शत्रु भी है। ईश्वर जीव का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। **''त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।''** (ऋ ८-९८-११) यदि इसको समझते हैं तो योग में सफल होंगे। यदि इसको नहीं जानते या ईश्वर से अयोग्य सम्बन्ध जोड़ते हैं तो विफल होंगे। लोक के माता-पिता से ईश्वर का मातृत्व-पितृत्व अधिक है। लोक में अच्छे धार्मिक पुत्र-पुत्रियां अपने माता-पिता से ठीक/अच्छे सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु क्या उनके ईश्वर से भी ऐसे सम्बन्ध हैं? यदि नहीं तो विफल होंगे। ईश्वर से तो नाम मात्र का सम्बन्ध रखते हैं।

ईश्वर की सत्ता ही में संशय या भ्रान्ति होगी तो उसके साथ उचित व्यवहार क्या करेंगे? संशय दूर होने पर ही ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने की बात होती है। हम सिद्धान्त में ईश्वर का और व्यवहार में टार्च का मूल्य अधिक समझते हैं। जब तक व्यवहार में ईश्वर के मूल्य का पता न लगे, तब तक उससे सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। साधकों को शब्द व अनुमान प्रमाण से ईश्वर को मान कर, संशय दूर करके फिर अभ्यास से प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव करना चाहिए।

व्यवहार में प्रयोग, निरीक्षण, परीक्षण करते रहना चाहिए। नाम और नामी का पता जिज्ञासु को होना चाहिए। नाम-नामी का अर्थ व फल जानने से विद्या प्राप्त होती है। हमारा पिता सर्वव्यापक ईश्वर 'ओ३म्' नाम वाला सर्वरक्षक है। उसके बिना संसार टिक नहीं सकता। जड़ पदार्थ और प्राणधारी सब उसके सहारे टिके हुए हैं।

(१) माता-पिता, राजा-गुरुः- वेद में ईश्वर को जीव का स्वामी, सहायक, सुहृद्-मित्र, माता-पिता, राजा और गुरु स्वीकार किया है। लोक में यह जीव अपने बच्चों की रक्षा ईश्वर की सहायता से करता है। अतः लौकिक माता-पिता से बड़ा माता-पिता ईश्वर है। लौकिक मां तो मोह-अज्ञानता के कारण, उलटे काम करने वाले अपने बालक को भी सारी सम्पत्ति का मालिक बना देती है; परन्तु ईश्वर ने यह धरती आर्य को दी '**आर्य ईश्वरपुत्रः**' (निरुक्त) श्रेष्ठ, आज्ञाकारी, ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव को धारण करने वाले उद्यमी को दी; अवज्ञाकारी, अनाड़ी सन्तान को नहीं। पिता की आज्ञानुसार चले सो पुत्र वरना नहीं। क्योंकि ईश्वर हमारा माता-पिता है, अतः यदि हम उस के विचार के साथ चलते हैं तो उसके पुत्र हैं, अन्यथा नहीं। ईश्वर के आदेश मानने पड़ेंगे यदि उसका पुत्र बनना चाहते हैं।

(२) गुरु-शिष्य व स्वामी-सेवक सम्बन्ध - ईश्वर हमारा गुरु, हम उसके शिष्य हैं, ईश्वर स्वामी हम सेवक हैं तो उसकी आज्ञा, आदेश हमारे लिये क्या हैं? उनका पालन हमें अवश्य करना चाहिए। ईश्वर के आदेश का पालन करना धर्म है, विरुद्ध चलना अधर्म, अन्याय, अविद्या, अज्ञान है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आनन्द से परिपूर्ण होने से कभी भूल

नहीं करता। ईश्वर परिपूर्ण है, अतः अपनी कमी पूर्ण करने हेतु कोई स्वार्थ का काम नहीं करता, जब कि लौकिक गुरु में ऐसी सम्भावना है। ईश्वर सर्वोपरि है अतः उसका निर्णय अन्तिम होगा। जब कोई कहे ये अच्छा, कोई कहे वह अच्छा, सो क्या अच्छा क्या बुरा यह अन्तिम निर्णय परम गुरु परमेश्वर का ही मान्य होगा।

(३) उपास्य-उपासक सम्बन्ध - ईश्वर भजनीय-उपासना करने योग्य है ऐसा समझकर उपासना करते हैं तो हम उसका लाभ उठा पायेंगे। एक वैज्ञानिक प्रकृति-विकृति की उपासना यह मानकर करता है कि उससे मेरा पूर्ण कल्याण हो जायेगा। उन सांसारिक वस्तुओं को उपास्य मानता है, जिनसे यह कामना कभी पूर्ण नहीं होती। चाहे जितना बड़ा वैज्ञानिक, धनवान्, चक्रवर्ती राजा हो जाये, प्रकृति-विकृति के उपासक कभी पूर्ण सुखी नहीं हुए। किसी के साथ सुख के लिये सम्बन्ध जोड़ना उसकी उपासना है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, फल भोगने में ईश्वराधीन है, यह जीव-ईश्वर सम्बन्ध है।

संसार की उपासना में चार प्रकार के दुःखों से मिश्रित सुख मिलेगा, परन्तु ईश्वर की उपासना से ईश्वर का विशुद्ध ज्ञान, बल, आनन्द प्राप्त होगा। कोई भी व्यक्ति क्षण भर के लिये भी ज्ञान-कर्म-उपासना से रहित नहीं रह सकता। या तो संसार की उपासना या ईश्वर की उपासना बनी रहती है।

(४) व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध - जीव-ईश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध किस रूप में रहता है ? एक लोहे के गोले को तपाने के बाद अग्नि के अन्दर-बाहर गोला 'अग्निवत्' दिखाई देगा। गोला व्याप्य और अग्नि व्यापक है। जो अग्नि अन्दर-बाहर रहती है वह व्यापक और जिसके अन्दर रहे वह गोला व्याप्य। जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो साधक ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ता है ? लोक में जिस वस्तु को ढूँढ़ते हैं, वह प्रायः दूर होती है। इस तरह जो व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को नहीं जानता, वह ईश्वर को भी नहीं जानता। उसे वह कहीं दूर ढूँढ़ते हुए प्राप्त करना चाहता है। साधक की पहली भूल-ईश्वर को कहीं दूर ढूँढ़ता है। दूसरा अपने निकट ऊपर-नीचे दायें-बायें तो

स्वीकार करता है, पर शरीर में नहीं समझता। तीसरा बाहर मानता हुआ, अपने शरीर में भी खोजना आरम्भ करता है, परन्तु जीव स्वयं जहाँ रहता है वहाँ अपने आप को छोड़कर शेष शरीर में ईश्वर को खोजता है, क्योंकि उसको व्याप्य-व्यापक संबंध का सही ज्ञान नहीं। जब साधक यह जानेगा कि ईश्वर मेरे में भी है तभी तो उसे स्वयं में पा सकेगा। अपने को छोड़कर अन्यत्र ईश्वर को ढूंढ़ेगा तो कदापि नहीं मिलेगा।

ईश्वर में गोता लगाने की विद्या आनी चाहिए। जैसे समुद्र में गोता लगाता है। अज्ञान, अधर्म जलाने पर लक्कड़रूपी संसार जल जाता है तो ज्ञानाग्नि में ईश्वर दीखने लगता है। शरीर, भोजन, मकान, भाई, पड़ोसी, बाजार आदि में व्यक्ति भूला रहता है। व्याप्य को व्यापक के प्रभाव से दबा देना चाहिए। व्याप्य (लक्कड़) का प्रभाव समाप्त हो तो व्यापक (अग्नि) का प्रभाव दीखेगा।

ईश्वर के सम्बन्ध से व्यक्ति का निर्माण

ईश्वर की सहायता के बिना मानव निर्माण नहीं होता। जहाँ पाश्चात्यों का दर्शन समाप्त होता है वहां वैदिक दर्शन शुरू होता है। ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव और वेद का आदेश अन्तिम आदेश है। ईश्वर की आज्ञा मानने वाले को कोई डिगा नहीं सकता, चाहे मृत्यु भी क्यों न आ जाये। सत्य को जानने के लिये पाँच कसौटियाँ हैं (१) जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह वह सत्य, उससे विरुद्ध असत्य। (२) जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल वह वह सत्य, उससे विरुद्ध असत्य। जैसे कोई कहे, 'बिना माता-पिता के योग से लड़का हुआ' ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य मानना चाहिए (३) "आप्त" अर्थात् धार्मिक विद्वान् सत्यवादी सत्यमानी निष्कपटियों के उपदेशानुकूल। (४) अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसा सर्वत्र समझना। (५) आठों प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव के अनुकूल। अतः जो सत्य है उस पर डट जायें। असत्य को

उखाड़ कर फेंक दें । सत्य जानना, मानना, करना ही ईश्वर का काम है । हम भी सत्य पर चलेंगे । ईश्वर के निषेध को छोड़ेंगे और आदेश को मानेंगे । अच्छे कार्य से धन कमाएँ । जो अपने झूठ, छल-कपट, कुवासनाओं, अविद्या, चोरी आदि से सन्धि करता है, वह दूसरों की चोरी आदि से भी सन्धि कर लेता है । अपने दोषों को दूर करें तो अन्य के दोष दूर कर सकते हैं । जब हमारा पिता-माता-आचार्य-राजा ईश्वर है तो यह दो मुठ्ठी वाला मानव क्या हानि करेगा ? सत्य कार्य को सिद्ध करो या मरो ।

वैदिक धर्म में प्रकृति का स्वरूप

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

(योग दर्शन २/१८)

समस्त मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है । अतः दृश्य = कार्य प्रकृति भी तीन गुणों वाली है, क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं । सत्त्वगुण प्रकाशात्मक, रजोगुण क्रियाशील = प्रवृत्ति करने वाला और तमोगुण स्थितिशील = प्रकाश व क्रिया को स्थिर करने वाला होता है । यह दृश्य का स्वभाव बताया । फिर उसका स्वरूप बताया भूतेन्द्रियात्मक होना । 'भूत' शब्द से सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के भूतों का ग्रहण है । 'इन्द्रिय', शब्द से बाह्य तथा आंतरिक दोनों इन्द्रियों का ग्रहण है । इस प्रकार महतत्त्व, अहंकार, पाँच सूक्ष्म भूत, ग्यारह इन्द्रियाँ और पृथ्वी आदि पांच स्थूल भूत तक सभी प्रकृति - विकृतियों का ग्रहण है । समस्त कार्य रूप यह जगत् 'दृश्य' कहलाता है ।

दृश्य का प्रयोजन - इस दृश्य जगत् का प्रयोजन पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्राप्त करना है । दोनों को जीवात्मा बुद्धि की सहायता से प्राप्त करता है । अतः यह बुद्धिकृत् कहलाते हैं । परन्तु बुद्धि अचेतन होने से स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती । पुरुष की प्रेरणा से ही बुद्धि का समस्त व्यापार होने से बुद्धिकृत् भोग व अपवर्ग, पुरुष ही भोगता है । जैसे राजा के आदेश से योद्धा लड़ते हैं परन्तु इसका परिणाम 'हार जीत' राजा की ही मानी जाती है, योद्धाओं की नहीं ।

जीवात्मा बाह्य विषयों से सम्पर्क करने की इच्छा करता है तो बुद्धि से निश्चय करके मन को प्रेरित करता है और मन बाह्य इन्द्रियों को प्रेरित करता है । इसी प्रकार इन्द्रियों से जो भी ज्ञान होता है वह मन के द्वारा बुद्धि को और बुद्धि के द्वारा पुरुष को मिलता है । अतः इस पुरुष के अतिशय निकट रहने वाली बुद्धि प्रधान मन्त्री की भाँति होती है । अतः हम भ्रम से बुद्धि को भोक्ता मानने लगते हैं ।

प्रकृतिजन्य प्रत्येक कार्य-वस्तु में ये त्रिगुण मुख्य-गौण भाव से रहते हैं । एक समय में एक ही गुण प्रधान होने से वह दूसरे गौण भाव प्राप्त दो गुणों पर हावी होकर अपना प्रभाव प्रकट करता है । ये सभी पृथक्-पृथक् अपनी शक्ति बनाये हुए प्रधान गुण के साथ सहकारी भाव से कार्य करते हैं । गौण रूप से रहने वाले गुण भी उचित अवसर तथा उपयुक्त निमित्त को पाकर अपने-अपने कार्यों को प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं अतः शान्त घोर और मूढ़ परिणामों का क्रम न्यूनाधिक रूप में सदा चलता रहता है ।

''**बुद्धेरेव पुरुषार्थऽपरिसमाप्तिर्बन्धः**'' (व्यास भाष्य) अर्थात् बुद्धि आदि जो सूक्ष्म शरीर के घटक हैं वे जन्मजन्मान्तर में भी पुरुष के साथ रहते हैं । पुरुष इनकी सहायता से ही सुख-दुःख का भोग करता है । अतः मोक्ष होने तक बुद्धि आदि पुरुष के लिये कार्य करते रहते हैं और इनके कार्य की समाप्ति न होना ही पुरुष का बन्धन है । तथा ''**तदर्थावसानो मोक्षः**'' (व्यास भाष्य) अर्थात् उस बुद्धि का कार्य जब विवेकख्याति होने पर समाप्त हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप को समझ लेता है, तो यह प्रकृति के सम्पर्क से पृथक् होना ही पुरुष का ''मोक्ष'' कहलाता है ।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतो-ऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ (सांख्य द. १-६१)

अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन वस्तुओं (गुणों) के संघात का नाम प्रकृति है । प्रकृति से महतत्त्व = बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, उससे पांच तन्मात्राएँ (सूक्ष्म भूत) और दस इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पांच स्थूलभूत ये चौबीस और पच्चीसवाँ पुरुष (= जीव और ईश्वर) ये पच्चीस का गण है ।

ईश्वर सृष्टिकर्ता, जीव भोक्ता, और प्रकृति भोग्या है। सृष्टि एक महायज्ञ है, इसके रचयिता ओ३म् (= ईश्वर) ने अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड (अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड) रचाये। इस संपूर्ण सृष्टि का राजा परमेश्वर है, जो कि महान् है। प्रकृति सूक्ष्म और जड़ है, जो कि ईश्वर के आधार पर रहती है। ईश्वर महान् व सूक्ष्मतम है।

माता-पिता केवल कर्म करते हैं। रचना ईश्वर करता है। मातायें भोजन को केवल पेट में डालती हैं स्तनस्थ दूध ईश्वर बनाता है।

सृष्टि रचना

लगभग दो अरब वर्ष पहले यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादि कुछ नहीं था। बद्ध जीवात्माएँ मूर्च्छित अवस्था में थीं। जैसे निद्रा में कोई अनुभूति नहीं होती उसी तरह प्रलयकाल में भी नहीं होती है। सत्त्व-रज-तम कणों को इकठ्ठा कर ईश्वर ने अपने ज्ञान-सामर्थ्य से महत्तत्त्व, फिर अहंकार, फिर पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन व पांच तन्मात्रायें (सूक्ष्मभूत) कुल अठारह तत्त्व, फिर पांच स्थूलभूत- उनसे सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी आदि यह स्थूल जगत बनाया। वनस्पति, मछलियाँ, कीट, पतंग, पशु आदि के उपरान्त अन्त में मनुष्यों के शरीरों की रचना हुई। मनुष्य सब युवा शरीरवाले उत्पन्न हुए। अमैथुनी सृष्टि बनी।

प्राणी उत्पत्ति चार प्रकार की है -

(१) जरायुज = मनुष्य, पशु आदि।

(२) अण्डज = पक्षी, कीट आदि।

(३) उद्भिज = वृक्ष आदि पृथ्वी में से निकलते हैं।

(४) स्वेदज = पसीने से जुएँ, गेहूं आदि में कीड़े-कीटाणु आदि।

ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों को चार वेदों का ज्ञान दिया। १ अरब ९६ करोड़ ८ लाख ५३ हजार १०० वर्ष बीत गये अमैथुनी सृष्टि को हुए। ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष इस सृष्टि की कुल आयु है। फिर विनाश की प्रक्रिया होती है, जिसे विचार कर वैराग्य की भावना जगा सकते हैं। जीवन और पृथ्वी का आधार 'सूर्य की गर्मी', दो अरब कुछ करोड़ वर्ष उपरान्त कम होती जायेगी, तब इस पर आधारित मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वनस्पति आदि धीरे-धीरे क्षीण होते-होते नष्ट हो जायेंगे। इस

उत्पत्ति-प्रलय की प्रक्रिया से संसार की नश्वरता ज्ञात होती है व प्रलयावस्था के सम्पादन से वृत्ति निरोध होकर जीवात्मा ईश्वर की शरण में समाधि प्राप्त कर लेता है।

संसार सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान

जब तक मनुष्य की संसार के प्रति तृष्णा समाप्त नहीं होती तब तक ईश्वर की ओर श्रद्धा नहीं होगी। जब तक इस संसार को जानने-देखने से तृप्ति नहीं होती, तब तक इससे छुटकारा नहीं होगा। गहराई से विचार करें कि रंग-आकार का थोड़ा बहुत फेर होगा बाकी सब भूगोल के मनुष्य एक जैसे हैं। जन्म की प्रक्रिया एक समान। उलटे सीधे काम की आदतें एक समान। अन्याय, शोषण, शत्रु, मित्र एक समान। इसी प्रकार सब देशों में पशु-पक्षी भी समान। जैसे जल, नदी, पहाड़, रेगिस्तान, नीम, पीपल, शाक, पान, जंगल, वनस्पति यहां पर, वैसे ही यूरोप-अमेरिका में। इस प्रकार विचारने से दुनियाँ को देखने की लालसा समाप्त हो जायेगी। एक योगी को कुटिया में बैठे-बैठे अनुमान प्रमाण से संसार को जानने की इच्छा पूर्ण हो जाती है।

पदार्थ अपना स्वभाव छोड़ता नहीं। कोई वस्तु आकस्मिक (ओटोमैटिक) है ही नहीं। जो वस्तु संघातरूप (अवयववाली) है, जोड़कर बनी है वह अवश्य कभी बनी है, जैसे कपड़ा, घड़ा संघात से बना हुआ है। बनी हुई वस्तु नष्ट भी हो जायेगी। पृथ्वी संघात से बनी है तो वह जरूर टूटेगी। जिसने बनाई है वह तोड़ेगा। ये सब नाशवान् चीजें हैं।

पदार्थ

ईश्वर-जीव-प्रकृति स्वरूप से अनादि पदार्थ हैं। यह संसार और जीवों के कर्म प्रवाह से अनादि हैं। ये कभी समाप्त नहीं होते। यह जगत व जगत के पदार्थ रचना से आदि-अन्तवाले हैं, बनते-बिगड़ते रहते हैं। पाप-पुण्य तुल्य होने पर मनुष्य जन्म मिलता है। संस्कारों के नष्ट (दग्धबीज) कर देने पर आत्मा शुद्ध होकर मुक्ति में जाता है। शुद्धज्ञान - शुद्धकर्म- शुद्ध उपासना से मुक्ति मिलती है। सृष्टि का अत्यन्त उच्छेद कभी नहीं होता। बद्धजीव प्रलय में बेहोश (मूर्च्छित) दशा में रहते हैं; मुक्तजीव ईश्वर के सान्निध्य से ज्ञानानन्द में रहते हैं।

भोग

संसार के भोगने पर निर्णय होगा कि इसमें पूर्ण सुख नहीं है। संसार को कम से कम (अति आवश्यक ही) भोगें। संसार सत् है इसे भोगें, परन्तु इसमें डूबना नहीं, तैरना है। सब कुछ ईश्वर का मानकर कर्त्तव्य पालन करते हुए त्याग भावना से उपयोग में लेना है। अपना नहीं मानेंगे तो केवल पालन, पोषण, रक्षा करना अपना कर्त्तव्य मानकर चलेंगे। जैसे दूसरे की छोड़ी हुई गाय का दूध पीते हैं तो उसे चारा पानी भी दे देते हैं।

पञ्च क्लेश

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। (यो. २/३)

चित्त की पांच वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) को यथावत् रोकने और योगसाधना में सब दिन प्रवृत्त रहने से ये पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। जब इन क्लेशों का प्रवाह चालू रहता है तो प्राणी इनसे पीड़ित रहते हैं। ये क्लेश सत्त्वादि गुणों के सहयोग से चित्त को भोगोन्मुख करते हैं। ये क्लेश, कर्मों, के और कर्म क्लेशों के परस्पर सहायक होकर प्राणियों के कर्म विपाक=कर्मफलों अर्थात् जाति, आयु और भोगों को प्रकट करते हैं।

(१) अविद्या - विद्या से अन्य अयथार्थ ज्ञान ही अविद्या है। अविद्या का क्षेत्र बहुत विस्तृत तथा महान् है तो भी इन चार विभागों के अन्तर्गत अविद्या का समावेश हो जाता है। **'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'**। (यो. द. २/५)

१. अनित्य - अर्थात् कार्य जो शरीरादि स्थूल पदार्थ व लोकलोकान्तर में नित्य बुद्धि तथा जो नित्य पदार्थ अर्थात् ईश्वर, जीव व जगत का कारण, इनमें अनित्य बुद्धि होना।

२. अशुचि - मलमूत्रादि के समुदाय, दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि का करना तथा तालाब, बावड़ी, कुण्ड, कुंआ और नदी में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों को सहना। स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्य विद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार, सब में प्रेम भाव से वर्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना।

३. दु:ख में सुख बुद्धि अर्थात् विषय तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेषादि दु:ख स्वरूप व्यवहारों से सुख मिलने की आशा करना; जितेन्द्रियता, निष्कामता, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दु:ख बुद्धि करना।

४. अनात्मा में आत्म बुद्धि अर्थात् जड़ में चेतन और चेतन में जड़ भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। अविद्या से विपरीत जो पदार्थ जैसा है उसमें वैसी बुद्धि रखना 'विद्या' है इससे जीव बन्धन से छूट कर मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करता है।

(२) **अस्मिता** - बुद्धि (मन-चित्त) को आत्मा से भिन्न न समझना।

(३) **राग** - सुख में प्रीति यह राग है।

(४) **द्वेष** - दु:ख में अप्रीति द्वेष है।

(५) **अभिनिवेश** - सब प्राणी मात्र की यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूँ, मरूँ नहीं। मृत्यु दु:ख से त्रास अभिनिवेश कहाता है।

इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ा के, ब्रह्म को प्राप्त होके, मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये।

क्लेशों की अवस्थायें पांच हैं -

(१) **प्रसुप्त** - जन्मजन्मान्तर में भोगे हुए भोगों के संस्कार जो सोये पड़े हैं।

(२) **तनु** - सतत् सत्संग, उपदेश आदि से जो कमजोर बन गये हैं वे

(३) **विच्छिन्न** - एक संस्कार उभरता, तो उससे विपरीत दबा रहता है। जैसे द्वेष की स्थिति में प्रेम का न उभरना।

(४) **उदार** - प्रकट या उभार की स्थिति। जैसे जवानी में प्रेम।

(५) **दग्धबीजभाव** - योग में विशिष्ट सिद्धि होने पर जले हुए दाने के समान।

संसार में स्थायी सुख नहीं

जब तक संसार में दु:ख की अनुभूति नहीं करोगे, उस से नहीं ऊबोगे तब तक ईश्वर के सुख, ज्ञान, बल, आनन्द के प्रति रुचि नहीं होगी। संसार में सुख तो है पर पूर्ण सुख नहीं है। कोई न कोई दु:ख लगा हुआ है। जो थोड़ा सुख है वह भी दु:ख मिश्रित है। अत: बुद्धिमान् ऋषि लोग उसे भी

दु:ख मानकर छोड़ देते हैं व पूर्ण सुख (=मुक्ति, ब्रह्मानन्द, ईश्वर प्राप्ति) चाहते हैं।

(१) **कुत्रापि कोऽपि सुखी न।** (सांख्य ६/७) अर्थात् संसार में कहीं भी कोई भी पूर्ण सुखी नहीं है।

(२) **विविधबाधनायोगाद् दु:खमेव जन्मोत्पत्ति:।** (न्याय ४-१-५५) अनेक प्रकार के दु:खों के साथ सम्बन्ध होने से शरीर में आना (जन्म लेना) दु:ख ही है।

(३) **अथाऽतो ब्रह्म जिज्ञासा।** (वेदान्त १-१-१) संसार को भोग कर देख लिया, दु:ख ही दु:ख है। अब ब्रह्म के जानने की इच्छा करनी चाहिये।

(४) **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदु:खे।** (वैशे. द. ५-२-१५) आत्मा जब मन, इन्द्रिय व विषय के साथ सम्बद्ध होता है तब सुख-दु:ख की उत्पत्ति होती है।

(५) **परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:॥** (यो. २-१५) इस संसार के जो भी पदार्थ हैं उनमें विवेकी व्यक्ति के लिये चार प्रकार का दु:ख मिला हुआ है। यह भावना कि भोगों को भोगने से मैं तृप्त हो जाऊँगा, मिथ्या है। इन्द्रियों का सामर्थ्य शिथिल या समाप्त हो जाने पर भी मन की तो भोगने की इच्छा बनी ही रहती है यह 'परिणाम दु:ख' है। भोगने के लिये तैयार, परन्तु उसमें कोई बाधा आये, कोई बाधक बने तो यह 'ताप दु:ख' अच्छा पुत्र बिगड़ न जाये, कुकर्मी न हो जाये यह 'ताप दु:ख'। मिलने में बिछुड़ने का यह 'ताप दु:ख' है।

भोगने में हम सुख दु:ख की अनुभूति करते हैं, उसकी छाप चित्त पर पड़ती है, तो उन्हें फिर भोगने की इच्छा होती है। वही भोग यदि न मिले अथवा कम, घटिया, महंगा या समय पर न मिले तो दु:ख होगा, यह 'संस्कार दु:ख' है। और 'गुणवृत्तिविरोधदु:ख' - सत्त्व, रज, तम गुणों का एक दूसरे से परस्पर विरोध होने से कभी कुछ विचार तो कभी कुछ विचार, करूँ कि न करूँ, पाप-पुण्य करने का वृत्तिविरोधरूपी घर्षण-दु:ख होना।

(६) **न वै सशरीरस्य सत: प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति।** (छां. उप. ८-१२-१) शरीर के रहते सांसारिक सुख-दु:ख हुए बिना नहीं रहते।

निष्काम भाव से प्रयोग करते यदि सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करेंगे तो ये दुःख नहीं सतायेंगे, जैसे ऋषि लोगों को। विपरीत दुःख की अनुभूति योगावस्था में नहीं होगी।

उपसंहार

मैं-मेरा का सम्बन्ध इतना गहरा है कि व्यक्ति एक क्षण भी इस से अलग नहीं हो पाता। यह स्वस्वामी सम्बन्ध छूटने पर ही ईश्वर प्राप्ति की अधिक रुचि होती है। यह शरीर भी अपना नहीं, हम तो केवल इसके प्रयोक्ता हैं स्वामी नहीं हैं। जहाँ ममत्त्व वहाँ अविद्या, और जहाँ अविद्या है वहाँ दुःख है। इस सम्पूर्ण पिण्ड और ब्रह्माण्ड का बनाने वाला स्वामी तो ईश्वर है। इराक में लाखों मर गये कोई नहीं रोया। पञ्जाब-काश्मीर में रोज मारे जाते हैं कोई नहीं रोता परन्तु घर से तार आ जाये तो क्या हाल होगा ? यह स्व-स्वामी सम्बन्ध है।

ईश्वर-जीव-प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान (विवेक) होने पर व व्यावहारिक अनुभूतियाँ होने पर अन्य कुछ जानना शेष नहीं रहता। उपनिषद् में आया है 'किसके जान लेने पर अन्य किसी का जानना शेष नहीं रहता ? ब्रह्म पदार्थ के जानने के बाद अन्य के जानने की इच्छा नहीं रहती।' जीव ज्ञान, बल, आनन्द चाहता है। ईश्वर के जानने के पश्चात् उसे सब कुछ मिल जाता है।

प्रकृति को जाना, विकृति को जाना, स्वयं आत्मा को भी जाना परन्तु जब व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है तो कृतकृत्य हो जाता है उसे पूर्ण तृप्ति हो जाती है। ब्रह्म की प्राप्ति के पश्चात् कुछ भी प्रापणीय शेष नहीं रहता।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। (मु.उप.२-२-८)

दूर से दूर और समीप से समीप विद्यमान ईश्वर का साक्षात्कार कर लेने पर आत्मा की अविद्या नष्ट हो जाती है। सारे संशय नष्ट हो जाते है और सारे कुसंस्कारों का नाश हो जाता है।

कर्म

कर्म की परिभाषा व लक्षण : - सुख की प्राप्ति करने और दुःख से छूटने के लिये जीवात्मा मन, इन्द्रिय, शरीर से जो चेष्टा विशेष करता है : 'कर्म' है।

कर्म के भेद - कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (यो.द.४/७) योगी का अशुक्लाकृष्ण (निष्काम) कर्म होता है। तथा अन्य संसारी मनुष्यों का तीन प्रकार का (१) शुक्ल = सकाम शुभकर्म, (२) कृष्ण = अशुभ कर्म (३) शुक्ल कृष्ण = मिश्रित कर्म होता है।

कर्म कोई भी निष्फल नहीं जाता। कर्म फल कर्त्ता ही भोगता है अन्य नहीं। सिद्धान्त की तात्त्विक समझ से पवित्र मनुष्य ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मज्ञानी संसार का उपकार करने में जीवनभर रत रहता है।

योगी राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करता है वह निष्काम। जो भी शुभ कर्म, कर्त्तव्य भावना से, ईश्वर की आज्ञा के अनुरूप और ईश्वर प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर करे वह निष्काम। परोपकार आदि शुभ कर्मों के साथ-साथ ईश्वर उपासना भी आवश्यक है। केवल परोपकार आदि कर्मों से ही मुक्ति नहीं होती पर ये मुक्ति में सहायक जरूर हैं।

फल की दृष्टि से भेद - (१) क्रियमाण - जिन कर्मों को कर रहे हैं। (२) संचित - जिन कर्मों को कर चुके, (३) प्रारब्ध - जिन किये हुए कर्मों का फल मिलने लगे।

साधनों के आधार पर भेद-(१) शारीरिक (२) वाचनिक (३) मानसिक। **कर्त्ता की परिभाषा - कर्त्तुम्, अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुम् यःस्वतंत्रः स कर्त्ता।** अर्थात् जो किसी कार्य को करने, न करने या उल्टा करने में स्वतंत्र है, वह कर्त्ता कहलाता है।

कर्म की संख्या

दस शुभ (शुक्ल) व दस अशुभ (कृष्ण)

	शरीर से	वाणी से	मन से
शुभ	१. रक्षा २. दान ३. सेवा	४. सत्य ५. मधुर ६.हितकर ७. सार्थक	८. दया ९. अस्पृहा (अनिच्छा) १०. आस्तिकता
अशुभ	१. हिंसा २. चोरी ३. व्यभिचार	४. झूठ ५. निन्दा ६. कठोर ७. व्यर्थ	८. द्रोह ९. स्पृहा १०. नास्तिकता

कर्म का फल, परिणाम व प्रभाव

फल अपने किये हुए कर्मों का मिलता है। परिणाम व प्रभाव दूसरों के कर्मों (की हुई क्रियाओं) का भी होता है।

एक बालक अज्ञानता से ब्लेड से उंगली काट लेता है यह **'परिणाम'** । दूसरा बच्चा उसके निकलते खून को देख कर रोता है यह **'प्रभाव'**। मां आकर उसे चांटा लगाती है, यह कर्म का **'फल'** हुआ।

कर्म का फल है - जाति, आयु और भोग।

जाति = योनि यथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की।

आयु = जन्म से मृत्यु तक का समय। जैसे कीट-पतंग की कुछ घण्टे ही, पशु-पक्षी की कुछ वर्ष, मनुष्य की सौ वर्ष। मनुष्य अपनी आयु एक सीमा तक ही बढ़ा सकता है। अमुक दिन इतने बजे मरेगा, इस रूप में आयु निश्चित नहीं होती।

भोग = सुख और दुःख के साधनों का मिलना यह योनि (= शरीर) के अनुसार होता है। मांस खानेवाले शेर आदि, घास खाने वाले गाय-घोड़ा आदि, अन्न-फल-वनस्पति खाने वाले मनुष्य।

मिलकर फल देना - एक साथ एक कर्म का फल सुख व दूसरे कर्म का दुःख भी मिल रहा है। जैसे घर में फ्रीज, टी.वी. से सुख तो मिल रहा है पर साथ साथ बीमारी का दुःख भी भोग रहा है।

कर्म फल का नाश होना - मुक्ति के काल तक भोगने से शेष बचे कर्मों का फल अभी न मिलना, लौट कर आने पर मिलना।

व्यक्ति स्वयं दण्ड ले ले अथवा माता-पिता, गुरु-राजा आदि दण्ड दे दें तो इन कर्मों का फल ईश्वर से नहीं मिलेगा। यदि न्यूनाधिक मात्रा में लिया - दिया होगा तो शेष दण्ड (फल) ईश्वर देगा। कर्मों की वासना (= संस्कार) समाप्त कर दिये तो सकाम कर्म नहीं होंगे। उन निष्काम कर्मों का लौकिक फल नहीं मिलेगा। जीवनमुक्त योगी को पहले के किये कर्म का दण्ड मिलता है तो उसे वह ज्ञान के ऊँचे स्तर के कारण अनुभव नहीं करेगा। काल का प्रभाव कर्मों पर नहीं पड़ता। शुभकर्म करते हुए भी यदि अच्छा फल नहीं मिला तो समझें कि कर्म विधि में भूल हुई या कर्त्ता आलसी

है या साधन उपयुक्त नहीं है। मुक्ति के लिये सब कर्म फलों का नाश होना आवश्यक नहीं, पर अविद्या का नाश जरूरी है।

कर्म करते हुए जीना

कोई भी मनुष्य एक क्षण के लिये भी कार्य किये बिना नहीं रह सकता । मनुष्य अपने तीन प्रकार के साधनों मन, वाणी व शरीर से या तो कुछ चाह रहा होता है अथवा छोड़ रहा होता है। जीवात्मा के कर्म प्रवाह से अनादि हैं व वे उसके साथ ही हैं। जो मुक्त जीव सृष्टि में घूम रहे हैं, उनके भी कर्म अवशिष्ट हैं। कर्म अलग हैं, संस्कार अलग। पुरुषार्थ से कर्मों के संस्कार नष्ट हो सकते हैं। आज भी यदि अच्छे बुरे सकाम कर्मों के संस्कारों को दग्धबीज भाव में पलट दें और निष्काम कर्म करते रहें तो मुक्ति हो जायेगी ।

वेद की आज्ञा है कि व्यक्ति कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। शुभ कर्म करने से एक यह लाभ भी होता है कि व्यक्ति बुरे कर्मों से बच जाता है। जीवात्मा जब दुरित को छोड़ देता है तो सदा आनन्द से भरपूर रहता है।

ध्यान देने की बात है कि क्या कभी ईश्वर विश्राम करता है ? व्यक्ति प्रायः काम से बचना चाहता है । वर्तमान में प्रायः ऐसी मानोवृत्ति बन गई है कि :

(१) काम करने को कोई तैयार नहीं, पर फल सभी पाना चाहते हैं।

(२) आज का व्यक्ति काम गलत करता है, पर फल अच्छा चाहता है।

(३) परिश्रम करता कम (कौड़ी का) फल चाहता अधिक (रुपये का)

विचार धारा बन गई कि जो सतत काम करता है वह दुःखी होता है। किन्तु कर्म करने से दुःख नहीं होता। यदि कर्म करने से दुःख होता तो ईश्वर को भी दुःख होता। हाँ, ईश्वर को खैंचातानी नहीं करनी पड़ती। व्यक्ति को बल लगता है, कठिनाई महसूस होती है।

ईश्वर को ठीक नहीं जानने से लोग मानने लगे कि ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ है ईश्वर चाहे जो कर सकता है। ईश्वर चाहे जो कुछ नहीं कर सकता। बिना उपादान कारण के ईश्वर भी कार्य-सृष्टि नहीं

बना सकता। ऐसा कहने का साहस बहुत कम व्यक्ति रखते हैं। चोरी करने में डरें पर जैसा ईश्वर है उसे वैसा कहने में नहीं डरना चाहिये। ईश्वर में अनन्त सामर्थ्य है, अनन्त बल है, निरन्तर कार्य करता रहता है।

ईश्वर काम से कभी नहीं ऊबता, अतः हमें भी अच्छे कामों से कभी नहीं ऊबना चाहिये। ईश्वर का सदा अनुकरण करें। ईश्वर कर्म करता ही रहता है। जो व्यक्ति धर्म में, अच्छे कामों में दान नहीं देता उसका धन बुरे कामों में नष्ट होता है। अच्छे काम सकाम से लेकर निष्काम की कोटि तक होते हैं। जैसे ब्रह्मचर्य पालन से, पुरुषार्थ से आयु को बढ़ाना सकाम भी हो सकता है और निष्काम भी। जान बूझकर निष्काम कर्म करते रहें तो ही योगी बन सकते हैं।

कर्मफल विवरण

कर्मों का फल कब, कैसा, कितना मिलता है, यह जिज्ञासा सभी धार्मिक व्यक्तियों के मन में होती है। कर्मफल देने का कार्य मुख्यरूप से ईश्वर द्वारा संचालित व नियंत्रित है, वही इसके पूरे विधान को जानता है। मनुष्य इस विधान को कम अंशों में व मोटे तौर पर ही जान पाया है, उसका सामर्थ्य ही इतनी है। ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में कर्मफल की कुछ मुख्य-मुख्य महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया है, उन्हें इस लेख में व सम्बन्धित चित्र (CHART) में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

कर्मफल सदा कर्म के अनुसार मिलते हैं। फल की दृष्टि से कर्म दो प्रकार के होते हैं। १. सकाम कर्म २. निष्काम कर्म। सकाम कर्म उन कर्मों को कहते हैं, जो लौकिक फल (धन, पुत्र, यश आदि) को प्राप्त करने की इच्छा से किये जाते हैं। तथा निष्काम कर्म वे होते हैं जो लौकिक फलों को प्राप्त करने के उद्देश्य से न किये जायें बल्कि ईश्वर / मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से किये जायें।

सकाम कर्म तीन प्रकार के होते हैं - अच्छे, बुरे व मिश्रित। अच्छे कर्म - जैसे सेवा, दान, परोपकार करना आदि, बुरे कर्म-जैसे झूठ बोलना, चोरी करना आदि। मिश्रित कर्म - जैसे खेती करना आदि इसमें पाप व पुण्य (कुछ अच्छा व कुछ बुरा) दोनों मिले जुले रहते हैं।

निष्काम कर्म सदा अच्छे ही होते हैं, बुरे कभी नहीं होते। सकाम कर्मों का फल अच्छा या बुरा होता है, जिसे इस जीवन में या मरने के बाद मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों में अगले जीवन में जीवित अवस्था में ही भोगा जाता है। निष्काम कर्मों का फल ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति के रूप में होता है, जिसे जीवित रहते हुए समाधि अवस्था में व मृत्यु के बाद बिना जन्म लिए मोक्ष अवस्था में भोगा जाता है।

जो कर्म इसी जन्म में फल देने वाले होते हैं, उन्हें '**दृष्टजन्मवेदनीय**' कहते हैं। और जो कर्म अगले किसी जन्म में फल देने वाले होते हैं उन्हें '**अदृष्टजन्मवेदनीय**' कहते हैं। इन सकाम कर्मों से मिलने वाले फल तीन प्रकार के होते हैं – १ जाति २. आयु ३. भोग। समस्त कर्मों का समावेश इन तीन विभागों में हो जाता है। जाति – अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, वनस्पति आदि विभिन्न योनियाँ, आयु–अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक का बीच का समय, भोग–अर्थात् विभिन्न प्रकार के भोजन, वस्त्र, मकान, यान आदि साधनों की प्राप्ति। जाति, आयु व भोग – इन तीनों से जो 'सुख–दु:ख' की प्राप्ति होती है, कर्मों का वास्तविक फल तो वही है। किन्तु सुख–दु:ख रूपी फल का साधन होने के कारण 'जाति, आयु, भोग' को फल नाम दे दिया गया है।

'दृष्टजन्मवेदनीय' कर्म किसी एक फल = केवल आयु या केवल भोग, अथवा दो फल = आयु व भोग को दे सकते हैं जैसे उचित आहार–विहार, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, निद्रा आदि के सेवन से शरीर की रोगों से रक्षा की जाती है तथा बल–वीर्य, पुष्टि, भोग सामर्थ्य व आयु को बढ़ाया जा सकता है। जब कि अनुचित आहार, विहार आदि से बल, आयु आदि घट भी जाते हैं।

दृष्टजन्मवेदनीय कर्म 'जाति रूप फल' को देने वाले नहीं होते हैं। क्योंकि जाति (=योनि) तो इस जन्म में मिल ही चुकी है, उसे जीते जी बदला नहीं जा सकता; जैसे मनुष्य शरीर की जगह पशु का शरीर बदल लेना। हाँ मरने के बाद तो शरीर बदल सकता है, पर मरने के बाद नई योनि को देने वाला कर्म 'अदृष्टजन्मवेदनीय' कहा जायेगा, न कि 'दृष्टजन्मवेदनीय'।

अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म दो प्रकार के होते हैं – १. नियत विपाक २. अनियत विपाक। कर्मों का ऐसा समूह जिसका फल निश्चित हो चुका हो, और जो अगले जन्म में फल देने वाला हो उसे 'नियत विपाक' कहते हैं। कर्मों का ऐसा समूह जिसका फल किस रूप में व कब मिलेगा, यह निश्चित न हुआ हो उसे 'अनियतविपाक' कहते हैं।

कर्म समूह को शास्त्र में 'कर्माशय' नाम से कहा गया है। 'नियत विपाक कर्माशय' के सभी कर्म परस्पर मिलकर (संमिश्रित रूप में) अगले जन्म में जाति, आयु, भोग प्रदान करते हैं। इन तीनों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से जानने योग्य है –

१. जाति – इस जन्म में किये गये कर्मों का सबसे बड़ा वा महत्त्व पूर्ण फल अगले जन्म में जाति – शरीर के रूप में मिलता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर = वृक्ष से शरीरों को जाति के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। यह जाति भी अच्छे व निम्न स्तर की होती है यथा मनुष्यों में पूर्णाङ्ग–विकलाङ्ग, सुन्दर–कुरूप, बुद्धिमान् – मूर्ख आदि, पशुओं में गाय, घोड़ा, गधा, सुअर आदि।

२. आयु – नियत विपाक कर्माशय का दूसरा फल आयु–अर्थात् जीवन काल के रूप में मिलता है। जैसी जाति (=शरीर =योनि) होती है, उसी के अनुसार आयु भी होती है। यथा मनुष्य की आयु सामान्यतया १०० वर्ष, गाय, घोड़ा, आदि पशुओं की २५ वर्ष, तोता, चिड़िया आदि पक्षियों की २–४ वर्ष, मक्खी, मच्छर, भौंरा, तितली आदि कीट पतंगों की २–४–६ मास की आयु होती है। कुछ प्राणी ऐसे भी होते हैं जिनकी आयु कुछ ही दिनों की होती है। मनुष्य अपनी आयु को स्वतंत्रता से घटा – बढ़ा भी सकता है।

३. भोग – 'नियत विपाक कर्माशय' का तीसरा फल भोग (= सुख–दु:ख को प्राप्त कराने वाले साधन) के रूप में मिलता है। जैसी जाति (शरीर–योनि) होती है, उसी जाति के अनुसार भोग होते हैं। जैसे मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि साधनों से मकान, कार, रेल, हवाई जहाज, मिठाई, पँखा, कूलर आदि साधनों को बनाकर, उनके प्रयोग से विशेष सुख को भोगता है। किन्तु गाय–भैंस–घोड़ा–कुत्ता आदि पशु केवल घास, चारा, रोटी आदि ही खा सकते हैं, कार–कोठी नहीं बना सकते। शेर–चीत्ता–भेड़िया आदि हिंसक प्राणी केवल मांस ही खा सकते हैं वे मिठाई,

गाड़ी, मकान वस्त्र आदि की सुविधाएँ उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। जैसे कि पूर्व कहा गया कि 'नियत विपाक कर्माशय' से मिली आयु व भोग पर 'दृष्ट जन्मवेदनीय कर्माशय' का प्रभाव पड़ता है, जिससे आयु व भोग घट-बढ़ सकते हैं, पर ये एक सीमा तक (उस जाति के अनुरूप सीमा में) ही बढ़ सकते हैं।

'अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय' के अन्तर्गत 'अनियत विपाक' कर्मों का फल भी जाति, आयु, भोग के रूप में ही मिलता है। परन्तु यह फल कब व किस विधि से मिलता है इस के लिए शास्त्र में तीन स्थितियाँ (= गतियाँ) बतायी गयी हैं। १. कर्मों का नष्ट हो जाना २. साथ मिल कर फल देना ३. दबे रहना।

१. प्रथम गति – कर्मों का नष्ट हो जाना – वास्तव में बिना फल को दिये कर्म कभी भी नष्ट नहीं होते, किन्तु यहाँ प्रकरण में नष्ट होने का तात्पर्य बहुत लम्बे काल तक लुप्त हो जाना है। किसी भी जीव के कर्म सर्वांश में कदापि समाप्त नहीं होते, जीव के समान वे भी अनादि-अनन्त हैं। कुछ न कुछ मात्रा-संख्या में तो रहते ही हैं, व चाहे जीव मुक्ति में भी क्यों न चला जावे। अविद्या (=राग-द्वेष आदि) के संस्कारों को नष्ट करके जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, जितने कर्मों का फल उसने अब तक भोग लिया है, उनसे अतिरिक्त जो भी कर्म बच जाते हैं, वे मुक्ति के काल तक ईश्वर के ज्ञान में बने रहते हैं। इन्हीं बचे कर्मों के आधार पर मुक्ति काल के पश्चात् जीव को पुनः मनुष्य शरीर मिलता है। तब तक ये कर्म फल नहीं देते, यही नष्ट होने का अभिप्राय है।

२. दूसरी गति – साथ मिलकर फल देना – अनेक स्थितियों में ईश्वर अच्छे व बुरे कर्मों का फल साथ-साथ भी दे देता है। अर्थात् अच्छे व बुरे कर्मों का फल अच्छी जाति, आयु और भोग मिलता है, किन्तु साथ में कुछ अशुभ कर्मों का फल-दुःख भी भुगा देता है। इसी प्रकार अशुभ का प्रधान रूप से निम्न स्तर की जाति आयु भोग रूप फल देता है, किन्तु साथ में कुछ शुभ कर्मों का फल सुख भी मिल जाता है। उदाहरण के लिए शुभ कर्मों का फल मनुष्य जन्म तो मिला किन्तु अन्य अशुभ कर्मों के कारण उस शरीर को अन्धा, लूला या कोढ़ी बना दिया। दूसरे पक्ष में प्रधानता से अशुभ कर्मों का फल गाय – कुत्ता आदि पशु योनि रूप में मिला किन्तु कुछ शुभ कर्मों के

कारण अच्छे देश में अच्छे घर में मिला परिणाम स्वरूप सेवा भोजन आदि अच्छे स्तर के मिले।

३. तीसरी गति – कर्मों का दबे रहना – मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है, उन सारे कर्मों का फल किसी एक ही योनि – शरीर में मिल जाये, यह संभव नहीं है। अतः जिन कर्मों की प्रधानता होती है, उनके अनुसार अगला जन्म मिलता है। जिन कर्मों की अप्रधानता रहती है, वे कर्म पूर्व संचित कर्मों में जाकर जुड़ जाते हैं, और तब तक फल नहीं देते, जब तक उन्हीं के सदृश, किसी मनुष्य शरीर में मुख्य कर्म न कर लिये जायें। इस तीसरी स्थिति को 'कर्मों का दबे रहना' नाम से कहा जाता है।

उदाहरण – किसी मनुष्य ने अपने जीवन में 'मनुष्य की जाति – आयु – भोग दिलाने वाले कर्मों के साथ-साथ, कुछ कर्म 'सूअर की जाति – आयु – भोग' दिलाने वाले भी कर दिये। प्रधानता – अधिकता के कारण अगले जन्म में मनुष्य शरीर मिलेगा और सूअर की योनि देने वाले कर्म तब तक दबे रहेंगे जब तक कि सूअर की योनि देने वाले कर्मों की प्रधानता न हो जाय।

उपर्युक्त विवरण का सार यह निकलता कि इस जन्म में दुःखों से बचने तथा सुख को प्राप्त करने के लिए तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें सदा शुभ कर्म करने चाहिए और उनको भी निष्काम भावना से करना चाहिए।

उपासना

उपासना की परिभाषा – 'जिसे करके ईश्वर ही के आनन्द स्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको उपासना कहते हैं'। यह नहीं हो सकता कि सच्चे हृदय से ईश उपासना करें और आनन्द की प्राप्ति न हो। यदि आनन्द की प्राप्ति नहीं हो रही हो तो सूक्ष्मता से परीक्षण करें, कहीं आपके व्यवहार से कोई दुःखी तो नहीं या फिर ईश्वर के साथ किए गये व्यवहार में कोई त्रुटि तो नहीं ? क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है, उससे अधिक जीव का हितैषी कोई और नहीं हो सकता। ईश्वर के साथ शुद्ध सुख प्राप्ति के लिये सम्बन्ध जोड़ना-यह उपासना है।

प्रकृति-विकृति से उपयोग तो लेना है परन्तु उसकी उपासना नहीं करनी, उपासना तो ईश्वर की ही करनी है। जो प्रकृति की ही उपासना में लगे

रहते हैं वे अन्धकार रूप कूप में गिरकर दु:खों को प्राप्त होते हैं। प्रकृति की प्रशंसा होती है पूजा नहीं। पृथ्वी आदि पांच भूत व उनसे बने पदार्थ ईश्वर के द्वारा ही कारण-प्रकृति से बनाई हुई कृति है। फिर प्रकृति-पूजा से भी खराब व्यक्ति पूजा है। स्वार्थी तथा अज्ञानी मनुष्यों ने प्राकृतिक पदार्थों तथा व्यक्तियों की पूजा कराना अपना आजीविका का साधन बनाया है यह उनका बिना ही परिश्रम के लड्डू खाने की एक युक्ति मात्र है।

उपासक का आचरण

साधक को पक्ष-प्रतिपक्ष व जय-पराजय की शैली में नहीं बोलना चाहिये। प्रारम्भिक जिज्ञासु को प्रमाण तर्कों के बजाय आचरण पर अधिक जोर देना चाहिये। जिज्ञासु को खण्डनात्मक वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रमाण-तर्क से सिद्ध होने पर भी यदि आचरण न करे तो कुछ लाभ नहीं। जैसे गुरु विरजानन्द के इशारे (बोल) मात्र से कि पहले पढ़ी अनार्ष विद्या की पोटली जमुना में फेंक आवो तब आर्ष विद्या आयेगी; तो उसका पालन महर्षि ने तत्परता से कर डाला। इसी प्रकार काम, क्रोध, राग, द्वेष की गठरी फेंकने पर ही योगानन्द की सुगन्ध महकेगी। ईश्वर के बारे में लोग कितने पढ़ते, सुनते, चर्चा करते, गाते, बजाते हुए भी ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानते-समझते; क्योंकि ऋषि परम्परा लुप्त हो गई। ऋषि दयानन्द ने पुन: प्रचलित की, परन्तु उनके पश्चात्-आर्यजगत में योग्य गुरु परीक्षक न मिलने तथा आचरण में न लाने से बहुत प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। ईश्वर तत्त्व को भी जब हम अग्नि, वायु, जल आदि की सत्ता के समान निश्चयात्मक स्वीकार करेंगे तभी उसका साक्षात्कार, दर्शन होगा। जैसे प्रकृति एक चीज है, पदार्थ है, वस्तु है वैसे ही ईश्वर भी एक चीज-पदार्थ-वस्तु है। तभी तो उसका ध्यान-भक्ति हो सकती है। ईश्वर भी एक सत्तात्मक वस्तु है। जिसके दिये हुए उपकरण बुद्धि बिना हम सोच भी नहीं सकते, केवल एक नाड़ी बिगड़ जाये तो एम.ए., पी.एच.डी., मानव नंगा बजार में घूमने लगता है। ईश्वर सब के शरीरों की रचना करता, पालन करता और मन में भय-शंका-लज्जा करके बुरे कामों से रोकता है।

आलस्य प्रमाद को दूर करके जिज्ञासु विद्यार्थी विद्या को पढ़े तो विद्या ग्रहण करने में सफल होता है। अध्ययन काल में मुख्य विषय को छोड़ अन्य विषयों में मन न दौड़ायें। श्रद्धा, रुचि, प्रेम से इसमें मन लगायें। समाज में

व्यवहार करते समय योगांगों का प्रयोग कीजिए। बिना व्यवहार में लाये कोई फल नहीं। उपासना में बाहर के सम्बन्धों को विचारना छोड़ देवें। ईश्वर से मिलने का, ईश्वर साक्षात्कार करने का एक उपाय है श्रद्धा के साथ ओ३म् का जप। साधक अर्थ का विचार मन में रखता हुआ ईश्वर समर्पित भाव से (मैं ईश्वर के पास बैठा हूँ) जप करे भले ही यह सम्बन्ध आगम (शब्द) वा अनुमान प्रमाण के आधार पर हो। इस प्रकार ईश्वर समर्पित होकर देखो फिर ईश्वर अवश्य तुम्हारी समाधि लगा देगा। ध्यान दें कि संगीत के साथ ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने में ईश्वर से सम्बन्ध और ईश्वर से प्रेम भाव भी बना रहता है या संगीत में मन लग जाता है ? आप नाम बोलते, गाते, वैसा मान-जान नहीं रहे तो समझो अभी ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है। साधक को ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों के स्वरूप को समझना पड़ता है। यदि ज्ञान ठीक न हो तो सफलता नहीं मिलती। इसी तरह कर्म, उपासना भी यदि ठीक नहीं हो तो भी सफलता नहीं मिलती।

साधना से मुक्ति

किस प्रक्रिया द्वारा साधना-योगाभ्यास करने से मुक्ति मिलती है, यह विषय इस 'साधना से मुक्ति' पत्रक में महर्षि पतञ्जलि रचित योगदर्शन के अनुसार प्रस्तुत किया गया है।

योग दर्शन में बताये गये यम नियम आदि आठ अंगो का अनुष्ठान करते हुए मन को सभी बुराइयों से तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन पाँच विषयों की तृष्णा से हटाकर ईश्वर में लगाने का नाम 'साधना' है और मरणादि सब दु:खों से छूटकर ईश्वरीय आनन्द भोगने का नाम मुक्ति है।

इस चित्र में १० पर्वत बताये गए हैं जो क्रमश: अधिक-अधिक उँचे हैं। इन पर्वतों की ऊँचाइयों से साधक के योगाभ्यास का स्तर दर्शाया गया है। ज्यों-ज्यों साधक योगाभ्यास में सफलता प्राप्त करता जाता है त्यों-त्यों उसका स्तर ऊँचा होता जाता है।

१. साधना के प्रारम्भिक स्तर में योगाभ्यासी व्यवहार में यम नियम का पालन करता हुआ स्थिरता पूर्वक ईश्वर का ध्यान करने के लिए सिद्धासन आदि कोई आसन लगाता है तथा मन को रोकने के लिए 'प्राणायाम' करता है।

२. मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने-अपने रूपादि विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् इन्द्रियाँ शान्त होकर अपना कार्य बन्द कर देती हैं इस स्थिति का नाम 'प्रत्याहार' है।
३. इस प्रकार अधिकार में किये मन को ईश्वर के ध्यान के लिए किसी स्थान पर स्थिर कर देने का नाम 'धारणा' है। धारणा की स्थिति सम्पादित करके ईश्वर को प्राप्त करने के लिए ईश्वर के गुण कर्म-स्वभाव का निरंतर चिंतन कर पाना 'ध्यान' कहलाता है।
४. ध्यान करने से साधक को संसार के तीन अनादि तत्त्वों (ईश्वर-जीव-प्रकृति) के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, इस स्थिति को 'विवेकख्याति' कहते हैं।
५. विवेकख्याति की प्राप्ति के पश्चात् योगाभ्यासी व्यक्ति का सांसारिक विषय भोगों के प्रति राग समाप्त हो जाता है। इस स्थिति को 'अपर वैराग्य' नाम से कहा गया है।
६. अपर वैराग्य की प्राप्ति के पश्चात् साधक को सम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में साधक की बुद्धि ऋतम्भरा (सत्य को ही धारण करने वाली) बन जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थायें होती हैं - वितर्क-विचार-आनन्द व अस्मिता। ये क्रमशः उत्तरोत्तर ऊँची अवस्थाएँ हैं। इनमें साधक को ५ स्थूल भूतों, ५ ज्ञानेन्द्रियों ५ कर्मेन्द्रियों, १ मन, १ बुद्धि, १ अहंकार, मूलप्रकृति तथा स्वयं अपना (जीवात्मा का) साक्षात्कार होता है।
७. सम्प्रज्ञात समाधि के बाद साधक को 'पर वैराग्य' की प्राप्ति होती है। उस स्थिति में ईश्वर के आनंद, ज्ञान, बल, आदि गुणों को जानकर ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम व श्रद्धा उत्पन्न होती है। इससे साधक को संसार के उपादान कारण मूल प्रकृति अर्थात् सत्त्व-रज-तम नामक तीनों गुणों के प्रति तृष्णा समाप्त हो जाती है।
८. पर वैराग्य के पश्चात् साधक को ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इस स्थिति को योग दर्शन में 'असंप्रज्ञात-समाधि' नाम से कहा गया है।
९. असंप्रज्ञात-समाधि को लम्बे काल तक (वर्षों तक) लगा लगाकर साधक ईश्वर से विशेष ज्ञान बलादि गुणों को प्राप्त करता हुआ धीरे-धीरे अपनी अविद्या के समस्त संस्कारों का नाश (दग्धबीज-

भावावस्था में पहुँचाना) कर देता है। यह स्थिति प्राप्त करने वाले साधक को 'कुशल' 'चरम देह' 'जीवनमुक्त' नाम से कहा गया है।

१०. जीवन मुक्त व्यक्ति जब शरीर छोड़ता है तब उसे नया शरीर नहीं मिलता, वह परम पिता परमात्मा के समीप रहता हुआ ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष तक आनंद भोगता है। इसी को नितान्त मुक्ति, पूर्ण मुक्ति कहते हैं। यही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है।

ब्रह्मविद्या की श्रेष्ठता

केवल विद्या (भले ही वेद - उपनिषद्-गीता आदि) पढ़ने जानने से, नारद की तरह मन्त्रविद् होने से प्रभु प्राप्ति नहीं होगी, इसके लिये आत्मविद् होना जरूरी है। विद्या भी चार प्रकार से आती है। आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन और व्यवहारकालेन। उपासक चारों को अपनाये।

ऋषि लोग ब्रह्म को जानने वाले को ही विद्वान् मानते हैं। अर्थापत्ति से कह सकते हैं कि ब्रह्मवेत्ता ने ब्रह्म को जानने से पहले प्रकृति और जीव को भी जान लिया है। लाखों-करोड़ों व्यक्ति इस विद्या में लगे हुए ईश्वर उपासना करते हैं, परन्तु कोई विरला ही ईश्वर-जीव-प्रकृति के शुद्ध स्वरूप को समझकर ज्ञान-कर्म-उपासना की शुद्ध वैदिक पद्धति अपनाता है। जिस शरीर में हम बैठे हैं उसकी और इस संसार की रचना एक बड़ा भारी विज्ञान है। जो व्यक्ति वेद और ऋषिकृत ग्रन्थों को छोड़कर चलेगा वह अवश्य भटक जायेगा, इसे नहीं समझ पायेगा।

उपासना का प्रभाव

उपासक यदि गवेषणा करके देखे तो ज्ञात होगा कि लौकिक चीजों का हम पर अधिक प्रभाव पड़ता है और ईश्वर का प्रभाव अत्यन्त न्यून ही रहता है। जिन जिन कारणों से ईश्वर का हम पर प्रभाव नहीं पड़ता उन उन कारणों को ढूंढें और दूर करें। यह विचारना चाहिए कि जब माता, पिता, गुरु, राजा से बात करते हैं तो हम पर कितना प्रभाव पड़ता है, क्या उपासना काल में भी इतना ही प्रभाव ईश्वर की हाजरी का पड़ता है ? ईश्वर बुद्धि में क्यों नहीं बैठता ? जब तक ईश्वर का प्रभाव अधिक और लौकिक चीजों का प्रभाव कम नहीं होता तब तक हम ईश्वर की उपासना नहीं कर सकते।

व्यक्ति जिसको अधिक लाभप्रद समझता है उसकी तरफ दौड़ लगाता है। जिसको लाभप्रद नहीं जानता उसकी उपेक्षा कर छोड़ देता है। एक खिलाड़ी प्रथम आने के लिये उसके लाभ यश-मान-धन आदि को देख स्पर्धा से पूर्व कितनी अधिक तैयारी करता है ? तब ही उसके प्रथम आने की संभावना बनती है। ओ३म् का जप, ज्ञान-प्राप्ति, ध्यान, यम, नियम, आसन, प्राणायाम ये सब ईश्वर प्राप्ति के साधन हैं। सो साधक को पूर्व तैयारी करनी चाहिये। उपासक मान की अपेक्षा अपमान को अमृत तुल्य समझे।

परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिए

१. ईश्वर के उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए।
२. वह संसार का निर्माता है।
३. वह वेद ज्ञान का दाता है।
४. वह सर्वरक्षक और परम हितैषी है।
५. उपासना से मन-इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है।
६. इससे सहन शक्ति बढ़ती है।
७. इससे कर्म निष्काम बनते हैं।
८. बुरे संस्कार नष्ट होकर अच्छे संस्कार उत्पन्न होते हैं।
९. विशुद्ध सुख की प्राप्ति होती है।
१०. ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति होती है।
११. आत्म-साक्षात्कार होता है।
१२. ईश्वर का साक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ओ३म् प्रणव से स्तुति = प्र उपसर्ग पूर्वक णु स्तुतौ धातु से अप् प्रत्यय करने से प्रणव शब्द बनता है। जिसके द्वारा उत्कृष्टता से ईश्वर की स्तुति की जाये वह प्रणव है, ओ३म् है।

स्तुति - ईश्वर सच्चिदानन्द, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम्, दयालु, सर्व जगत् पिता, माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, आनन्ददायक, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्रदाता है। इन विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति (=गुण कीर्तन) करनी चाहिये।

प्रार्थना - ईश्वर से स्वप्रयत्नोपरान्त सब श्रेष्ठ कार्यों में सहाय चाहना।

उपासना - प्रभु के आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना, सो पूर्वोक्त निराकार आदि लक्षण वाले की ही भक्ति करना, उससे अतिरिक्त किसी और की कभी न करना। जैसे सुख-दु:ख का ध्यान मन में होता है वैसे ईश्वर का ध्यान मन में होना चाहिये । मूर्ति की कुछ आवश्यकता नहीं । ईश्वर को सुख-दु:ख की भाँति पहचाना या अनुभव किया जा सकता है । ईश्वर की सत्ता सभी प्राणियों में सर्वत्र एक समान है, परन्तु जिसकी आत्मा में उस चेतन ईश्वर के जितने ज्ञान का अनुभव स्व स्व सामर्थ्यानुसार होगा उसकी आत्मा उतने ही सुख को प्राप्त होगी । जो ईश्वर द्युलोक, पृथ्वी लोक, आन्तरिक मन-इन्द्रियों आदि सारे पदार्थों में ओत-प्रोत है उसी ईश्वर को जानो । वही मुक्ति का अमृत सेतु है । अन्य बातों का परित्याग करो ।

ईश्वर का आनन्द कैसा ?

ईश्वर आनन्द से परिपूर्ण है । जैसे भूखे व्यक्ति को अत्यन्त स्वादिष्ट उचित भोजन मिलने पर लौकिक सुख मिलता है (परन्तु यह हीन उपमा है) । ऐसे ही दु:ख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति योगाभ्यास द्वारा ईश्वर-प्राप्ति में होगी ।

सांसारिक सुख में चार प्रकार का दु:ख मिश्रित है, मिश्री-हलवे की मिठास अन्तत: कम होते होते गारा मिट्टी के समान नीरस लगने लगेगी। परन्तु ईश्वर उपासना से आनन्द बढ़ता ही जाता है । सांसारिक सुख से रोगी, ईश्वरीय सुख सेवन से निरोगी होता है । ईश्वर का आनन्द नित्य और विशुद्ध है ।

जब तक व्यक्ति सांसारिक सुख में चार प्रकार का दु:ख नहीं अनुभव करता, तब तक ईश्वर के आनन्द में प्रवृत्त नहीं होता । जीवन काल में ही दु:खों से मुक्ति मिलने पर मृत्यु के बाद भी मुक्ति मिलती है । केवल मरने से ही मुक्ति नहीं मिलती । जीवित रहते-रहते जिसने ब्रह्म को जान लिया सो वह कृतकृत्य हो गया । ईश्वर अनुपम होने से उसके लिये उपमा नहीं दी जा सकती परन्तु समझने की दृष्टि से हीन उपमा दी गई है । जो सर्वशक्तिमान् को सच्चा जानता-मानता है, उसके उचित न्याय पर भरोसा करता है वह कभी दु:खी नहीं होता । राजा तो अल्पज्ञता से उचित-अनुचित निर्णय भी देता है पर ईश्वर सदा उचित करेगा और वह भी सुधारने के हेतु दया ही करता है । धन सम्पत्ति की तुलना में योग विद्या की प्राप्ति में

सहस्र गुणा सुख (आनन्द) अधिक है । मैं प्रभु को जानूँ, प्राप्त करूँ, साक्षात्कार करूँ यह भावना तीव्र रूप में बनाये रखें । केवल नाम स्मरण करते जाना परन्तु तदनुसार अपना चरित्र न सुधारना ईश्वर को प्राप्त करने का निष्फल प्रयास है ।

ईश्वर से उचित व्यवहार

जो काम जिस विधि से किया जाता है उसी विधि से करना चाहिये, तभी सफलता मिलती है । आसन पर बैठते ही सब विचार छोड़ देना । ऐसा न हो कि छेड़ना था ईश्वर का चिन्तन-मनन और छेड़ दिया व्यापार, धन्धा, पढ़ना आदि अन्य विषय । दिया समय ईश्वर को मिलने का और मुख फेर कर बातें-विचार करने लग गये संसार की संसार के साथ । तो यह बुलाये हुए अतिथि के समान ईश्वर के साथ अनुचित व्यवहार किया, सो कैसे उसे प्राप्त कर सकेंगे ?

इन्द्रिय दोष से और संस्कार दोष से अविद्या पैदा होती है । अज्ञान उद्वेग को पैदा करता है । सन्ध्या में बैठते ही निश्चय करो कि विषयों में मन को नहीं चलाऊँगा । जप अर्थ सहित, अपने को ईश्वर अर्पण करते हुए, प्रभु प्रेम में विह्वल हो, प्रभु से बातें करते हुए होना चाहिए । इस प्रक्रिया को अपनाने से संध्या उपासना में मन लगने लगता है । कहा भी है-

पास रहता हूँ तेरे सदा मैं अरे
तू नहीं जान पाये तो मैं क्या करूँ? (कवि प्रकाश)

व्यवहार काल - व्यवहार काल में यम-नियम का पालन करते हुए बुरी वृत्तियों को रोकना पड़ता है और अच्छी वृत्तियों को जगाना पड़ता है । व्यवहार काल में मन को देव मार्ग पर चलाये । जैसा कि वेद में कहा है-

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि । (ऋग्वेद)

ददता-अर्थात् दानी पुरुषों के साथ चलें । **अघ्नता**-अहिंसक (द्वेष भावना रहित) पुरुषों के साथ चलें । **जानता**- ब्रह्म को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों का अनुकरण करें । सूर्य समान - बिना विश्राम लिए योग (= कल्याण) मार्ग पर लगातार चलें । कष्ट आने पर सस्मित रहें ।

व्यवहार काल में चोरी, जारी, झूठ, ईर्ष्या, द्वेष आदि की प्रवृत्तियों को रोककर, स्वार्थ की जगह परोपकार, असत्य छोड़कर सत्य प्रवृत्तियों को

जगायें। परन्तु उपासना काल में अच्छी प्रवृत्तियों-विचारों को भी रोकना पड़ता है। जैसे वेद का पढ़ना-पढ़ाना, धर्म है। यज्ञ करना, दान, पठन-पाठन का विचार आदि को यदि उपासना काल में करेंगे तो ईश्वर से सम्बन्ध नहीं जुड़ पायेगा। व्यवहार काल में भी मन-इन्द्रियों को खुला नहीं छोड़ना, इन्हें यम-नियम से आबद्ध रखें।

उपासना काल - बालक का व्यवहार जैसे अपने माता-पिता-गुरु के साथ होता है वैसा ही व्यवहार जीवात्मा को परमात्मा के साथ करना चाहिए। प्रातः काल उपासना में बैठने की तैयारी जगते ही करनी पड़ती है। इस काल में कोई भी सांसारिक बातचीत, चर्चा-विचारणा न करके मौन धारण करना। दोनों काल की उपासना से पूर्व छोड़ने योग्य कार्य व विचारों को छोड़ना और करने योग्य कार्य व विचारों को ही करना। पहले जप, फिर अर्थ विचार, फिर समर्पण। जप में अज्ञान वश भूल से जो विचार उठें उसे पकड़ना और हटा देना। उलटे संस्कारों के कारण यदि कोई विचार असावधानी से उठा लें तो उसी समय सावधानी पूर्वक उसे हटा दिया जाये। पश्चात् भगवान की तरफ सहयोग के लिये दौड़ेंगे तब निश्चय ही हमें ईश्वर सहाय देगें।

योगविद्या का ज्ञान-विज्ञान जानने के लिये पहले चित्त की अवस्थायें जाननी पड़ेगी। पठित विद्वान् होने पर भी व्यक्ति अनुभव करता है कि चित्त बलात् विषयों की ओर जा रहा है। गया कब ? किसने भेजा ? यह वह भूल जाता है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति मन-इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख पाता है। बुद्धिपूर्वक की गई कुछ क्रियायें भी स्वभावतः होती लगती हैं। ईश्वर बुद्धिपूर्वक सृष्टि की रचना, पालन, व प्रलय करता है। इसी प्रकार जीव इन्द्रियों का चलाना, अच्छा सोचना, बुरा सोचना, चित्त का रोकना आदि क्रियाएँ करता है। वस्तुतः आपने स्वयं मन को चलाया, पर भूल यह हुई कि उसे पकड़ (जान) न सके कब चलाया ? ध्यान देंगे तो पता चल जायेगा कि मैं ही इसे विषयान्तर में ले गया था।

मन में तरंगें विचार उत्पन्न होते रहते हैं पर पता नहीं लगता। परन्तु सावधानी पूर्वक ध्यान देने से पता लगेगा कि मैंने एक मास पहले एक व्यक्ति के बारे में बुरा सोचा था, महीनों-वर्षों बाद विशेष ध्यान देने पर पूर्व सोचा हुआ विचार याद आ जाता है। उपासक इसके कारण उपासना में चित्त

को एकाग्र नहीं कर पाता। लगा था संध्या करने सोचने लग गया अन्य विचार फिर १५ मिनट बाद पता लगा मैं कहीं चला गया। मन को निरुद्ध करने का अभ्यास करते-करते उपासक को फिर ५ मिनट, एक मिनट, कुछ सेकण्ड बाद ही पता लग जाता है, कि मन को अन्य विषयों में लगा दिया, पर कब लगाया यह पता नहीं लगता। लगने के बाद पता चलता है कि मन विषयान्तर हो गया। अनेक बार पकड़ में आने पर भी, पता लगने पर भी व्यक्ति उन सांसारिक विचारों को चाहता है। तब उसे लगता है कि मैं खींचता हूँ ईश्वर की ओर पर मन खींचता है विषय चिन्तन की ओर। वास्तव में एक ही चेतनात्मा है जो मन को चलाता है। जीवात्मा अपनी सूक्ष्म इच्छा से ही मन को इतनी तीव्रता से चलाता है कि उसे पता ही नहीं लगता कि मन को चलाने वाला मैं हूँ वा यह स्वयं चल रहा है। ये सब बेकार का चिंतन असावधानी के कारण होता है। चेतना पूर्वक (तीव्र ज्ञान इच्छा पूर्वक) प्रयास करने से वृत्तियों का पता लग जाता है। जो क्रियायें सूक्ष्म इच्छाओं से होती हैं उनका पता साधक को नहीं चल पाता। इसे वैज्ञानिक अचेतन मन कहते हैं। वास्तव में सावधान-असावधान तो जीवात्मा ही होता है।

अनुभव से संस्कार बनता है। संस्कार से स्मृति, और स्मृति से मानव चरित्र बनता है। अच्छे बुरे विचारों की टक्कर होती रहती है तब संघर्ष करने से विजय होगी। उस समय मन को चलाना छोड़ दो, शान्त हो जायेगा। जीतने पर गद्गद् हो जाता है, तब जो आनन्द आता है वह वर्णनातीत है। मन को जड़ मानकर साधक बार-बार यह वाक्य दोहराये "मेरी इच्छा के बिना यह जड़ मन इन्द्रियाँ चलेंगे ही नहीं। मैं जहाँ चलाऊँगा, विचारूँगा वहीं मेरे पीछे जायेंगे।"

अभ्यास - श्रद्धापूर्वक, ज्ञानपूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक व तपपूर्वक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान में निरन्तर लगे रहना अभ्यास कहलाता है। साधक अपने आचरण-व्यवहार को दीर्घ काल तक अर्थात् जब तक बुरे संस्कार दग्धबीज भाव को प्राप्त न हो जायें विधि पूर्वक निरन्तर अभ्यास करते हुए स्वच्छ व परिपक्व बनाये। यदि योगाभ्यास बीच में छोड़ दिया तो स्थिति वही की वही हो जायेगी। संस्कार तेजी से बिजली की तरह एक दूसरे को दबाते हैं। बुद्धिमान् अच्छे संस्कारों को उत्पन्न करता है, बुरों को दबा देता है। परन्तु मूर्ख अच्छों को दबा देता है, बुरों को उभार

कर विचारने लगता है। बड़ी तीव्रता से विचार चलते हैं। व्यवहार काल में ईश्वर को समक्ष नहीं रखा तो उपासना काल में प्राप्त करना कठिन होगा।

संघर्ष – स्वस्थ (= योगस्थ) अवस्था में जीव के अधीन विचार तरंगें रहती हैं। निरोध के संस्कारों को जगाता है तो ईश्वर में आनन्द आने लगता है; और जब संसारी तरंगें जगाने लगता है तो दु:ख सागर में डूबता जाता है। मन को खुला छोड़ देने पर अन्यथा विचारेगा अन्यथा विचारने से बुद्धि ठिकाने नहीं रहेगी। महान् बनने के लिये कुछ आदर्श हैं, नियम हैं, व्रत हैं, संकल्प हैं, उन्हें लेकर चलना पड़ता है, नहीं लेने से नीचे गिरता चला जायेगा। ईश्वर भी अपने अटल नियम पर चलता रहता है। साधक कभी निराश न हो। प्रयत्न करने पर भी मन डिग जाये तो प्रायश्चित्त करके पुन: सन्मार्ग पर चलना शुरू कर दे। गिरने पर पुन: चलने की प्रक्रिया से उन्नति होगी, न कि बिलकुल ही न चलने से। मन–वचन–कर्म से अपने वा अन्य के दोषों से सन्धि न करें। बुराईयों के साथ बड़ा भारी अथक संघर्ष / युद्ध करना पड़ता है।

मन की विचार तरंगें (वृत्तियाँ) स्वयं उठती हैं या मैं उठाता हूँ ? मन–इन्द्रियाँ अथवा ईश्वर उठाता है ? सूक्ष्मता से विचारने पर ज्ञात होगा कि निश्चय ही केवल मैं स्वयं ही उठाता हूँ। इस प्रकार विचार करने से साधक को ऐसा प्रतीत होगा कि मुझ में साहस, श्रद्धा, शक्ति आ गई कि यह मेरे हाथ में है कि कब किस विचार को मैं उठाता हूँ। परन्तु यह सब ईश्वर प्रदत्त मानें। यदि 'अहम्' मैं करने वाला विचार लायेगा तो मिथ्या अभिमान होगा। लोकैषणा व स्वामित्त्व से अभिमान होता है जो साधक को पथ भ्रष्ट कर देता है।

सोते समय प्रतिदिन आत्म–निरीक्षण करें। इन्द्रिय निग्रह अर्थात् उन्हें सदा अपने अधिकार में रखें ताकि बुराई में न फँसें। रात्रि में सोने से पूर्व सोचें आज क्या अच्छा किया क्या बुरा किया, फिर अन्तिम क्षण में ईश्वर चिन्तन के सिवाय अन्य कुछ न विचारें।

प्रात: उठते समय 'ओ३म्' सच्चिदानन्द स्वरूप आदि का ध्यान करते हुए फिर मुंह हाथ धोकर ईश्वर को याद रखते हुए अन्य कार्य करें।

ईश स्मरण में (१) कोई अन्य वृत्ति न उठायें। (२) केवल ईश्वर में ध्यान लगाकर उसके गुणों का अर्थ सहित चिन्तन करें। (३) मन पर पूर्ण

नियन्त्रण रखें। एक ही स्थान पर नित्य प्रति बैठें ताकि उसी जगह बैठने पर वही ईश्वर मिलन के विचार आयेंगे। बैठने का समय भी निश्चित हो।

आसन पर बैठने का लक्ष्य दोहराएँ कि मैं प्रभु से मिलने बैठा हूँ, अन्य विचार नहीं करूँगा। मन जड़ है इसे मैं चलाऊँगा। जड़–चेतन का विवेक रखना। ईश्वर–प्रणिधान, प्रलयावस्था का सम्पादन करने से ईश्वर समर्पित होकर मन वश में हो जायेगा। सुन्दर दिखने वाले शरीर में मांस, हड्डी, मलमूत्र भरा है इस विचार से आकर्षण समाप्त हो जायेगा। परन्तु इसका उपयोग धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष की उपलब्धि के लिये करना है।

सर्वरक्षक-सर्वदाता ईश्वर – सृष्टि में सब पदार्थों को बना (रचना) कर सब प्राणियों को जीवन दे रहा है। ईश्वर रोटी, कपड़ा, मकान बनाकर नहीं देता परन्तु इनके लिये गेहूँ, कपास, लोहा, मिट्टी, पानी आदि देता है। आगे का काम जीव का है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जड़–चेतन वस्तु व्यक्ति का कुछ भी भला नहीं कर सकती। जो कुछ भला करते हैं वह ईश्वर प्रदत्त पदार्थों से ही सहायता प्राप्त करते हैं। ईश्वर नित्य कल्याण करता है, कभी प्रतिशोध नहीं करता। उपासक ईश्वर से उचित व्यवहार, उसे पाने की तीव्र इच्छा (जिज्ञासा), पुरुषार्थ, तप आदि करता है तो अपनी सत्य कामना पूर्ण करता है।

ईश खोज के लिये ध्यान – उपासक ऋषियों, गुरुओं से सुनकर उसको खोजता है। एक उच्च तत्त्व की खोज करता है। लौकिक चीजों से ध्यान हटाकर निष्क्रिय होकर बैठना, कुछ भी नहीं सोचना यह ध्यान नहीं। ''**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**'' = जहाँ धारणा की है वहाँ एक ज्ञान का बना रहना ध्यान है। निर्विषय = सांसारिक विषय वस्तुओं से मन को हटाकर ईश्वर को जपता हुआ खोजता है – यह ध्यान है।

ईश्वर से बातें – हे प्रभु ! मैं आपका दर्शन साक्षात्कार करने बैठता हूँ। आपका स्वरूप वेदों के अनुसार और आर्य समाज के दूसरे नियम के अनुसार है उसको मैं देखना चाहता हूँ। आप सच्चिदानन्द स्वरूप कष्ट–क्लेश रहित, शुभ अशुभ कर्म से रहित, भोग–वासनाओं से रहित पुरुष विशेष हैं। आप अनन्त ज्ञान के भण्डार हैं। आप मेरे पिता के भी पिता, गुरु के भी गुरु हैं। आप मुझे विद्या भी देते हैं। आपका नाम 'ओ३म्' है। आप के नाम जप विचार के फल से सब विघ्नों का नाश हो जाता है। हे प्रभु ! वेद ने आपको ''**सपर्यगात्, अकायम्**'' कहा है...।

जैसे एक अच्छे भूखे बालक को मां गोद में उठा, दूध पिलाकर तृप्त कर देती है । इसी प्रकार ईश्वर प्रणिधान से युक्त जीव को ईश्वर अपने ज्ञानानन्द से भरपूर करके समाधि लगा देता है ।

गुण-गुणी एक – गुण और गुणी की अलग-अलग व्याख्या की जाती है । किन्तु गुण और गुणी एक हैं, स्वतन्त्र दो वस्तु नहीं । ईश्वर साक्षात्कार में ईश्वर के गुणों द्वारा ही उसका प्रत्यक्ष-अनुभव-दर्शन होता है । जैसे अग्नि का गुण दाह प्रकाश है, इससे भिन्न अग्नि कुछ भी नहीं ।

योग विद्या व विज्ञान

योग के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में सफल न हुआ, न हो रहा है और न होगा । जीवन व्यवहार में शुभ कर्मों का करना अशुभ को छोड़ना । शुभ कर्मों को भी इतना उच्च बनाना कि केवल निष्काम कर्म रह जायें । कोई बात केवल कहने मात्र से सिद्ध नहीं होती, प्रमाणों से जो सिद्ध हो उसे सत्य जानें । योग चित्त की एक विशिष्ट अवस्था है । यह मन (चित्त) जड़ वस्तु है, फिर भी दो मिनट वश में नहीं रह सकता, भले ही वर्षों से जानता, मानता, करता रहा हो । जड़-चेतन की अलग-अलग विशेषतायें हैं; परन्तु बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी चेतन को जड़ का मिश्रण ही मान रहे हैं ।

दर्शन और विज्ञान दोनों स्वीकार करते हैं कि कारण के गुण कार्य में आते हैं । जैसे पीले रंग के धागे से पीला वस्त्र बनेगा । सत्त्व-रज-तम रूप प्रकृति से बना मन भी पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु की तरह जड़ है । परन्तु चेतन (= आत्मा) का संयोग होने से मन चेतन जैसा दीखता है, अनुभव होता है । जैसे हमारा शरीर जड़ होते हुए भी आत्म संयोग से चेतन दीखता है । जो ज्ञानादि संवेदनशीलता का अनुभव नहीं करता वह जड़ है । चेतन तत्त्व 'आत्मा' शरीर रूपी साधन से सम्बद्ध होने पर अपनी क्रियायें करने लगता है, इसलिये जिनके मत में पांच भूतों के संघात मात्र से ही शरीर चेतन होकर क्रियाएँ करने लगता है उनका मत ठीक नहीं । उनका मत मानने पर तो मृत्यु का हीअभाव हो जाना चाहिए जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है ।

जड़ तत्त्व में क्रिया उत्पन्न करने के लिये चेतन की जरूरत पड़ती है । व्यवहार, विज्ञान, दर्शन से यह सिद्ध है । स्थिर वस्तु बिना बाह्य शक्ति के स्थिर ही रहेगी और चलायमान वस्तु चलती ही रहेगी जब तक कोई बाह्य शक्ति (=चेतन तत्त्व) गति या स्थिर न करे । एक चलने वाला दूसरा चलाने

वाला । एक रुकने वाला दूसरा रोकने वाला । एक जड़ दूसरा चेतन दो तत्त्व (= पदार्थ) हुए ।

मन जड़ है – चित्त (मन) जड़ है, पर यह जीवात्मा के बाह्य विषयों का ज्ञान कराने का साधन है । जैसे टेलीफोन (साधन) को नहीं पता होता कि उस पर क्या बात हो रही है ।

मन रोका जा सकता है । जैसे विद्यार्थी जड़ मन को परीक्षा देते समय तीन घण्टे रोक लेता है उस समय उसे खाने-पीने देखने व सैर करने आदि की बात कुछ नहीं सुहाती, कोई विचार नहीं आता क्योंकि वह परीक्षा के महत्त्व को जानता है । इसी प्रकार विषय (ईश्वर) का महत्त्व समझने पर योगाभ्यासी का मन रुक जाता है ।

सामान्य इच्छायें नियम बनाने संकल्प करने से व तीव्र इच्छायें अभ्यास करने से रुकती हैं । सदा स्मरण रखें कि ईश्वर के बनाये हुए इस मन को मैं (ईश्वर की दी हुई शक्ति से) चलाता हूँ, न कि यह जड़ मन स्वयं चला (= भाग) जाता है ।

रोकने में कठिनाई – नियम (संकल्प) के बिना मन को स्वतन्त्रता से विचारने दिया जाता है । दूसरे मन को चेतन मान रखा है कि वह जैसे स्वयं चला जाता है परन्तु जो ज्ञान से युक्त है वह चेतन है, जो इससे उलटा हो वह जड़ । जैसे आँख के लिये कहें कि यह देखती है मानती नहीं । यह बात युक्ति संगत नहीं क्योंकि चक्षु को हम अपनी इच्छा अनुसार खोल या बन्द कर सकते हैं । इसी प्रकार मन को भी अपनी इच्छा शक्ति से विषयों से खींच सकते हैं, हटा सकते हैं । विचार स्वयं कदापि नहीं आते बल्कि हम विचारते हैं । विपरीत ज्ञान से, संस्कार दोष से ये विचार उभरते हैं अर्थात् हम उभारते हैं ।

मन की पांच अवस्थायें – (१) क्षिप्त = चञ्चल (२) **मूढ** = मूर्च्छित, ज्ञान-विज्ञान से शून्य । **(३) विक्षिप्त** = इसमें चित्त की एकाग्रता आरम्भ होती है तो किसी बाधा से भंग हो जाती है । यथा बाहर की आवाज आदि से और आन्तरिक वृत्तियों से । **(४) एकाग्र** = इसमें चित्त की एकाग्रता बनी रहती है । **(५) निरुद्ध** = ऊँचे ज्ञान-विज्ञान-विवेक के बाद अनन्त ईश्वर में वृत्ति निरोध होने पर यह अवस्था आती है । उस काल में सर्दी-गर्मी एक सीमा तक नहीं सतायेगी । काम, क्रोध, लोभादि मर नहीं

जाते, रुक जाते हैं। असावधानी से यदि क्लेश आये तो विवेक अभ्यास से तुरंत रोक सकता है। इस अवस्था में योगी देखता है कि भोगी-संसार क्लेश में पिस रहा है। पर मैं इनसे ऊपर आनन्द के पहाड़ पर खड़ा हुआ हूँ।

योगाभ्यासी मन को रोकने में समर्थ हो सकता है

यदि वह...

(१) मन को जड़ समझ ले।

(२) स्वयं को मन का चलाने वाला जान ले।

(३) संसार के विषयों में दु:ख अनुभव करे।

(४) स्व-स्वामी सम्बन्ध का नाश कर दे।

(५) व्याप्य-व्यापक का ज्ञान कर ले।

(६) भोक्ता-भोग्यपन को नष्ट कर दे।

(७) ईश्वर प्रणिधान बना ले।

(८) शरीर व संसार को अनित्य समझ ले।

(९) ऋषियों के निर्णयों पर विश्वास करे।

(१०) व्यवहार काल में भी मन को नियंत्रित रखने का अभ्यास करे।

(११) प्रलय अवस्था का सम्पादन कर ले।

योग में बाधक अविरति - अविरति = विरति (वैराग्य) का न होना अर्थात् संसार की वस्तुओं से वैराग्य भाव न होना, हर समय मन में कोई न कोई सांसारिक सुख का विचार बना रहता है। सुख के बाद राग भी होता है, वस्तु के सेवन के पश्चात् पुन: सेवन की इच्छा बनी रहती है। वैराग्य का अभाव एक रोग है। यह उपासना में बड़ा बाधक है। विवेक वैराग्य के अभाव में हम उपासना में मन नहीं लगा सकते। सांसारिक सुख की इच्छायें उत्पन्न करते ही रहते हैं। इसे दूर करें।

योग में बाधक स्व-स्वामी सम्बन्ध

आपने उत्तम-उत्तम पदार्थों का निर्माण किया। उत्तम भोजन बनाया। स्वयं भी खाया तथा अन्यों को भी खिलाया। भावना यह बनी कि ये मेरे पदार्थ थे, मैंने भोजन का प्रबन्ध किया। यह मेरा, मैंने किया आदि विचार अज्ञान के कारण अच्छे लगते हैं, परन्तु जिन पदार्थों से प्रबन्ध किया वे सब ईश्वर के हैं। जिस शरीर से किया यह भी ईश्वर का दिया हुआ है। मेरी

विद्या, मेरा शरीर, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरी बुद्धि, मेरा चातुर्य यह सब अपना मानने लगता है। अत: छोड़ते समय कष्ट होता है, परन्तु सच्चा योगी सब ईश्वर का मानता है। वह अपने सम्मान से विष तुल्य डरता है व अपमान को अमृत तुल्य मानता है। मेरा-मेरी की समझ, मेरा सम्मान हो आदि यह उलटी स्थिति क्यों बनी ? इसका कारण बाल्यावस्था से ही उलटी शिक्षा मिलते रहना है। बाल्यावस्था से लौकिक रस लेना सिखाया पर ईश्वर का रस लेना नहीं सिखाया।

भोग्य पदार्थ ईश्वर के मानकर सेवन करें, अपना न मानकर ईश्वर के समर्पण करें। ईश्वर के मानकर उनका रक्षण करते हुए प्रयोग करें। वास्तव में न्याय की बात यह है कि यह सब ईश्वर के बनाये हुए पदार्थ उसी के हैं। बिना शरीर के संसार भर के संपूर्ण जीव कुछ भी नहीं बना सकते।

स्व-स्वामी सम्बन्ध ही उपासना में बड़ा बाधक है, निष्काम कर्म में विघ्न है। लौकिक व्यक्ति अधिक से अधिक लौकिक वस्तुओं का संग्रह करके अपने आप को निर्भय, सुखी, बलवान् समझता है यह सब जीवन यापन के लिये साधन रूप में कुछ अंश में ठीक है परन्तु इसे साध्य समझना भूल है।

योगी तो स्व-स्वामी सम्बन्ध तोड़कर जितना भौतिक वस्तुओं का त्याग करेगा उतना ही अपने को निर्भय पायेगा तथा आनन्दित रहेगा। स्व-स्वामी सम्बन्ध में राग का कारण अविद्या है। जहाँ अधर्म होगा वहाँ दु:ख होगा। जो भी धन, बल, रूप मिला है वह परमात्मा का मानकर चलेगा तो सुखी होगा।

व्यक्ति जितना अधिक संग्रह करेगा उतना ही अधिक पांच प्रकार का दोष उपस्थित होगा।

(१) अर्जन दोष, (२) रक्षण दोष, (३) क्षय दोष, (४) संग दोष,

(५) हिंसा दोष। बिना प्राणियों को कष्ट दिये कोई भोग नहीं भोगा जा सकता।

आध्यात्मिक व्यक्ति के द्वारा जहाँ अपने स्थायी निवास के आश्रम बनाये हुए हैं, उन में स्व-स्वामी (= संग) दोष आता है। उसके द्वारा किये गये धर्म प्रचार, लेखन कार्य आदि सभी का उद्देश्य अपने आश्रम को भव्य बनाना होता है। उसकी सारी शक्ति इसी में खर्च हो जाती है। इस बारे में

एक देश विदेश में प्रतिष्ठित योगाचार्य का एक उदाहरण देना ही पर्याप्त है जिससे हम प्रेरणा ले सकते हैं। उन्होंने अभिमान में आकर ऋषिकेश में लाखों रूपये संग्रह करके बड़े परिश्रम से, लगभग बीस वर्षों का समय लगाकर एक भव्य आश्रम बनाया। अन्त में उनके मुख से दुःखी मन से यह सुनने को मिला कि इस आश्रम की कुटियायें मुझे कूट रही हैं। उनको स्व-स्वामी सम्बन्ध सता रहा था। उन्हें सौपने के लिये योग्य पात्र अधिकारी नहीं मिले। संन्यासियों द्वारा अपने मठ-आश्रम बनाने में कुछ दोष समाज का भी है। समाज की कुव्यवस्था के कारण शरीर रक्षण के लिये संन्यासी उपदेशक को आश्रम बनाने पड़ते हैं।

उपासना काल में उपासक को नाम-रूप को तोड़ना पड़ता है। आत्मा का कोई नाम नहीं। जो चीज हम लेकर नहीं आये वह साथ भी नहीं जायेगी। अविद्या के कारण शरीर, धन, पुत्र, पत्नी को हम अपने आत्मा का अंग मान कर चलते हैं। व्यक्तम् = सगे सम्बन्धी आदि और अव्यक्तम् द्रव्य-धन-मकान-फैक्ट्री जब बढ़ते हैं तो मैं बढ़ रहा हूँ ऐसा मानता है। जब नष्ट होता है तो मेरा टुकड़ा टूट गया, मैं कमजोर हो गया, मर गया ऐसा समझ दुःखी होता है। यहाँ तक कि संन्यासी, आचार्य भी शिष्य, विद्यार्थी के आश्रम-गुरुकुल से चले जाने पर स्व-स्वामी सम्बन्ध के कारण रोने लगते हैं।

उपासना का अंग जप - ईश्वर की उपासना से उपासक में ईश्वरीय गुण प्राप्त होते हैं। बार बार मंत्र का उच्चारण जप कहलाता है। वह मंत्र-श्लोक ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव को जताने वाला हो।

जप तीन प्रकार से किया जाता है - (१) मानसिक विचार द्वारा। (२) अत्यल्प ध्वनि जिसमें केवल होठ हिलते हों। (३) वाचिक-उच्च स्वर सें। इसलिये नहीं कि ईश्वर कहीं दूर है उसे पुकारें, परन्तु नवीन अभ्यासी के लिये बाह्य दूसरी ध्वनि बाधा न डाल सके और वह अपने ही स्वर को सुनकर अर्थ का विचार करके ईश्वर समर्पित हो सके।

साधक जब ज्ञान पूर्वक परिश्रम करता है तो उसे सफलता मिलती है। साधक को सदा बोध हो कि जिस-जिस काम के लिये मैं इच्छा व प्रयत्न करूँगा वही कार्य होगा। ऐसा न समझे कि मन में जैसे विचार आयेंगे वैसा

ही करना पड़ेगा। यह न समझे कि मेरी इच्छा के बिना मन-इन्द्रियाँ स्वतः कार्य में लग जाते हैं।

शब्द को बोलते ही अर्थ बोध होना चाहिये। उस काल निरीक्षण करें कि क्या जप में गायत्री के पदों का अर्थ उच्चारण काल में रहता है या नहीं। धुन में, उच्चारण में भूल हो सकती है यह गौण है, मुख्य तो अर्थ में भूल न होना है। हमें ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना है। उसका ज्ञान, बल, आनन्द लेना है। ऐसा समझ कर योगाभ्यास करना चाहिए। लम्बे स्वर से पदोच्चारण करते, शब्दार्थ करते हुए अन्य विचार आयें तो दूर कर फिर अर्थ पर ध्यान रखते हुए ईश्वर समर्पण (ईश्वर सम्बन्ध) भी बनाये रखें।

जप में तीन काम

(१) मंत्र का उच्चारण। (२) मन्त्र का अर्थ। (३) ईश्वर समर्पण। मैं ईश्वर के सामने उपस्थित होकर यह उच्चारण व अर्थ भावना कर रहा हूँ ऐसी भावना मन में बनाए रखें। यह ध्यान की रीति है। 'धीमहि' का अर्थ है हम आपके ज्ञान, बल, आनन्द, तेज को धारण कर रहे हैं। धारण करने का प्रयास कर रहे हैं।

कोई नई चीज सीखने में कठिनाई तो होगी। वर्षों के अभ्यास से विधि आयेगी। फिर क्रियारूप में करता है तब सफलता मिलती है। आठ अङ्गों का आचरण करने पर अशुद्धि का नाश होने पर आत्मा-परमात्मा का ज्ञान होने तक निरंतर ज्ञान में वृद्धि होती है। साधक के अविद्या-अधर्म का नाश होने पर समाधि प्राप्त होती है। यदि नहीं हो रही तो समझना चाहिए कुछ कमी-दोष है। मन-वाणी-शरीर से योगाङ्गों का ठीक आचरण नहीं कर रहे हैं।

जिससे विचार, मनन, संकल्प, विकल्प करते हैं वह मन है, मन से विविध प्रकार की तरंगें उठती हैं उनको रोकना योग है। कई बार विपरीत समाचार सुन कर मन की तरंगों पर नियन्त्रण न कर पाने से हृदय गति रुकने से कईयों की मृत्यु भी हो जाती है। उसी मन को समझ पूर्वक रोकने पर योगी बन जाता है, ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

ईश्वर उपासना से जो ज्ञान-विज्ञान मिलता है वह जीवन निर्माण में अद्भुत होता है। जो ऋषि दयानन्द में ईश्वर की उपासना न होती तो सारे संसार का विरोध कैसे सहते ? एक ओर काशी के सैंकड़ों विद्वान् पण्डित

और काशी नरेश अपने हजारों अनुयायी लोगों सहित शास्त्रार्थ समर में ऋषि को पराजित करने पर उतारु, तो दूसरी और निर्द्वन्द्व दयानन्द अकेले । उनकी भाषा ऐसी कि जैसे परमात्मा के सामने खड़े होकर बात कर रहे हों ।

ईश्वर उपासना की औपचारिकता निभाने के लिये प्रातः सायं केवल पन्द्रह मिनट मंत्र बोल लिये, इस प्रकार से कोई विशेष लाभ नहीं होता । जो व्यक्ति दिन भर ईश्वर की उपासना करता है, उससे सम्बन्ध जोड़े रखता है उसका सारा जीवन कार्य करते हुए ईश्वर के आनन्द, ज्ञान, बल से परिपूर्ण रहता है ।

ईश्वर प्राप्ति की तीव्र इच्छा मन में इतनी अधिक होवे कि ईश्वर को छोड़कर अन्य कुछ भी न भावे (= अच्छा लगे) । यदि ईश्वर प्राप्ति के संस्कार नहीं हैं तो बनाये जा सकते हैं । ईश्वर के तुल्य या ईश्वर से अधिक किसी पदार्थ को न मानें । इस प्रकार निरंतर अभ्यास करते हुए साधक को ईश्वर शीघ्र अपना कर अपना स्वरूप दिखा देता है ।

जप की विधि

गायत्री मन्त्र या अन्य किसी मंत्र को लेकर केवल हजार-लाख बार पाठ करने से नहीं परन्तु धीमी गति से अर्थ और भक्ति भाव सहित जप से आनन्द आता है । धीमी गति में सावधानी से अर्थ सहित जप करते हुए यदि साधक मन को विषयान्तर करता है तो पकड़ में आ जाता है। धीमी लम्बी गति से शब्द का अर्थ करने से और स्वर मधुर होने से ऋषिकृत अर्थ पर प्रेम भाव होता है । इसके साथ अन्य विषय में मन को नहीं लगाना । याद रहे हमारी आत्मा के प्रयत्न बिना मन अपने आप कहीं नहीं जायेगा । क्रिया करने वाले पदार्थ केवल दो ही हैं । हम और ईश्वर। यही दो ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाले हैं, अन्य प्राण, इन्द्रियाँ, मन, वायु, जल, आकाश आदि नहीं ।

हमारे मन में आत्मा के प्रयत्न बिना कभी भी विचार नहीं आता। वस्तुतः यह विचार कौन उठाता है ? हताशा, निराशा, कौन ले आता है ? अपने मन को शरीर के किसी एक भाग पर स्थित करते हुए एक केन्द्र पर विचारो कि "यह विचार कहाँ से आते हैं ?" देखें, निरीक्षण करें कहीं से नहीं आते । इससे सरल जप करते जाओ अर्थ करते जाओ । यदि असावधानी से मन गया, (नहीं-नहीं भेज दिया) फिर वृत्ति रोकते जाओ

चलते जाओ । जैसे मोटर ड्राईवर सामने आजू-बाजू भी देखता है, ब्रेक भी लगाता है, स्टीयरिंग भी काबू में रखता है । ध्यान ईश्वर में लगाने से विषयान्तर में नहीं जायेगा । कठिनाई तब उत्पन्न होती है, जब मन में ईश्वर के प्रति शंका उत्पन्न होती है, कि 'जिसका मैं ध्यान कर रहा हूँ वह ईश्वर है या नहीं' ? यह विचारों की टक्कर चलेगी । जैसे कार चालक चौराहे पर सोचेगा कौन सा मार्ग मेरे गंतव्य की ओर आता है ? वह रुकेगा, पर जब पता चलेगा कि यह रास्ता मेरे लिये है तो बिना हिचके चला जायेगा । अतः शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण पर विश्वास रख कर यह 'ऋषियों के प्रयोग' स्वयं करके देखें ।

जप के विशेष वाक्यः

ओ३म् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

ओ३म् असतो मा सद्गमय ।

ओ३म् तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

ओ३म् मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

उपासना का अंग ध्यान

परिभाषा : 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' । (यो. द. ३-२) अर्थात् धारणा करने वाले स्थान पर मन को स्थिर करके, ईश्वर की खोज सम्बन्धी ज्ञान का लगातार बने रहना ध्यान है ।

मुण्डक उपनिषद् में **ध्यान की विधि** -

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥

अर्थ - प्रणव : (ब्रह्मवाचक) ओम् (पद) ही धनुष है, और आत्मा बाण है तथा ब्रह्म (परमात्मा) ही उस जीवात्मा का लक्ष्य कहा जाता है। उस लक्ष्यरूपी ब्रह्म को प्रमाद रहित सावधान होकर बींधना चाहिये । बाण की तरह उस लक्ष्य में घुस जाये (लीन होवें) ।

प्रश्न - क्या निराकार का भी ध्यान हो सकता है ?

उत्तर - हाँ । निराकार का भी ध्यान होता है । यदि निराकार वस्तु को आकार = रंग, रूप, सीमा वाली मानकर ध्यान करेंगे तो उस वस्तु का ध्यान नहीं होगा, बल्कि अध्यान होगा । पदार्थ का जो गुण है उसे लेकर ही ध्यान हो सकता है । जैसा ईश्वर का गुण-कर्म-स्वभाव नहीं है वैसा ध्यान करने से

कभी भी उसका ध्यान नहीं हो सकता है। गलत रूप में वस्तु का ध्यान करने से ही आज दु:ख की वृद्धि हो रही है, परम सुख अप्राप्य है। उदाहरण के रूप में किसी व्यक्ति का (पर्स) बटुआ जिसका रंग नीला, ६ x ४, इंच लम्बा चौड़ा दस हजार रुपये से भरा हुआ अंधेरी गली में खो गया। अब उस बटुए को हम अन्धेरी गली में खोजते हैं, वह जब तक नहीं मिलता तब तक खोज चलती ही रहती है यही ध्यान कहलाता है। मिलने पर ध्यान समाप्त।

'**ध्यानं निर्विषयं मन:**' इस सूत्र की व्याख्या 'जिसमें कुछ भी पता न लगें इस प्रकार के कुछ विद्वानों ने योग के क्षेत्र में यह महाभ्रम फैलाया हुआ है। कुछ भी पता न लगे का यथार्थ अर्थ है बाहर के वातावरण से हट जाना। जो दु:ख का कारण है वह हट जाये। परन्तु शान्त होते हुए भी बुद्धिपूर्वक ईश्वर तत्त्व से संबन्ध जुड़े बिना विशेष सफलता नहीं मिलती। कई कहते हैं अपने शरीर में दु:ख ढूंढ़ने लगो। उससे बाहर से कुछ राहत तो होगी, परन्तु यह अशुद्ध है। कई श्वास पर ध्यान रखने को कहते हैं, यह भी अपूर्ण है।

जैसे अनजाना विदेशी लाल किले को देखने आता है जैसा वर्णन उसने सुना वैसा ही मन में रखते हुए लाल किले की खोज करेगा। यदि जामा-मस्जिद को ध्यान में रख रहा है और ढूंढ़ता है लाल किले को तो वह कभी भी लाल किले के दर्शन नहीं कर सकेगा। एक वस्तु को इस जन्म में देखा नहीं परन्तु शब्द प्रमाण से या अनुमान से गुण, कर्म, स्वभाव दिमाग में रखकर ढूँढ़ता है तो मिलती है। उस वस्तु को जिसे वह ढूँढ़ता है उसका शाब्दिक ज्ञान या आनुमानिक ज्ञान होना चाहिए। ध्यान करते हुए ईश्वर नामक वस्तु को ढूँढ़ते हुए साधक ऐसा लालायित रहे विह्वल हो जाये जैसे छोटा बालक माँ के लिये रहता है।

ध्यान में अन्य सब कार्य विचार रोक देना, केवल ईश्वर तत्त्व का ही विचार करना। अच्छे-बुरे सभी विचार त्याग देना। विचार प्रारम्भ से ही न उठाए जायें। व्यवहार काल में जिससे अनबन या मन मुटाव खींचातानी हुई उसको सजा देने का ख्याल उपासना में बैठते ही यदि नहीं दबाया तो उपासना कर ही नहीं पायेगा। उसे तुरन्त रोकना वरना बाद में काफी देर तक यह विचार ही पीछा नहीं छोड़ेगा।

प्रलयवत् संसार - बौद्धिक स्तर पर संसार को प्रलयवत् देखने, अनुभव करने से समाधि प्राप्त होती है। शरीर उत्पन्न होने से पहले नहीं था,

उत्पन्न होने के बाद कालान्तर में नहीं रहेगा। दूसरे शरीर आयेंगे, वे भी जायेंगे। एक दिन ऐसा आयेगा कि कोई भी नहीं रहेगा इसी प्रकार ये सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी भी नहीं रहेंगे। इस अवस्था में केवल ईश्वर शेष रहने पर जीवात्मा उस अनन्त में चक्कर काटने पर ईश्वर में स्थिर (समाधि प्राप्त) हो जायेगा। इसी तरह मृत्यु में (जो अवश्यम्भावी है) अपने शरीर को पहुँचा दें। मृत्यु भय से भागें तो जायें कहाँ ? इस प्रकार वृत्तियों की सब दौड़-धूप समाप्त हो जायेगी। साधक ज्ञान के स्तर पर सब से नाता तोड़ता, छोड़ता जाता है और समाधि को प्राप्त होता है।

ईश्वर का प्रत्यक्ष - जैसे अग्नि का अपने गुण गर्मी, प्रकाश, दाहक शक्ति से प्रत्यक्ष होता है। मिश्री का अपने रूप व मिठास से प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही ईश्वर अपने गुण आनन्द-बल-ज्ञान से प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रत्यक्ष अवस्था में साधक, सारे संसार को ईश्वर में डूबा हुआ जानता है।

व्याप्य - व्यापक का विज्ञान जाने बिना सफलता नहीं मिलती। हम व लोक लोकान्तर व्याप्य और ईश्वर व्यापक है। जब अन्य वस्तु में मन लगायें तो वहाँ भी ईश्वर को व्यापक देखें। फिर दूसरी तीसरी वस्तु में जहाँ भी साधक देखेगा। वहाँ ईश्वर दिखाई देगा। सूर्य व्याप्य में ईश्वर व्यापक देखें। सम्बोधित करें हे ओ३म् ! आदित्य आपके बाण हैं हमारी रक्षा के लिये। व्यापक के प्रभाव से व्याप्य का प्रभाव समाप्त हो जायेगा जैसे व्याप्य लोहे का गोला व्यापक अग्नि के प्रभाव से अग्निवत् लाल हो जाता है।

जैसे ही साधक बौद्धिक स्तर पर संसार को प्रलयवत् बना देता है उस अवस्था में वृत्ति निरोध होकर समाधि आरम्भ हो जायेगी। यह प्रारम्भिक अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि है। इस में ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे बंकर में बैठा व्यक्ति बमों की मार से सुरक्षित होता है, इसी प्रकार प्रलयवत् अवस्था में बाहर के काम, क्रोध, मोह आदि बमों की मार से योग साधक सुरक्षित रहता है।

ईश्वर - नियामक तत्त्व - आज का वैज्ञानिक भी सृष्टि में हर जगह नियम देखता है। बिना नियामक के नियम नहीं होता। अचानक दुर्घटना में चोट आदि का कम-अधिक लगना, मरना या बचना सो कार्य ईश्वर का नहीं। यह तो '**क्रियाभेदात् परिणामभेद:**' ही है जिसका परिणाम अनिश्चित है। परन्तु जहाँ क्रिया बार-बार एक ही प्रकार हो वहाँ यह ज्ञान

होता है कि इन क्रियाओं का नियामक कोई शक्तिमान् तत्त्व अवश्य है। जो इस सृष्टि को चलाता है। एक ऐसा जड़ तत्त्व जो चलाए बिना चले नहीं, गतिशील पत्थर स्वयं विचार कर रुके नहीं। परन्तु चेतन जीव स्वयं विचार कर सकता है। इन गतिमान् सूर्य, पृथ्वी, तारों आदि को चलाने वाला सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् तत्त्व ईश्वर है। क्योंकि अप्राप्य देश में कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं होती।

ईश्वरोपासना में मन क्यों नहीं लगता ?

१. हमारा मन-इन्द्रियों के विषय में ज्ञान कम है।
२. हमारा अपने विषय (आत्मा) में ज्ञान कम है।
३. हमारा संसार के विषय में ज्ञान कम है।
४. हम विषय भोगों से प्राप्त होने वाले दु:खों की अनुभूति नहीं करते। विषय भोगों के सुख को दु:ख मिश्रित अनुभव नहीं करते।
५. ईश्वर की उपासना से होने वाले लाभों को नहीं जानते।
६. संसार की वस्तुओं का स्वामी ईश्वर को नहीं जानते।
७. उपासना से पहले मानसिक सज्जा (तैयारी) नहीं करते।
८. ईश्वर को व्यापक और संसार को व्याप्य नहीं स्वीकार करते।
९. उपासन काल में संघर्ष नहीं करते।
१०. व्यवहार काल में यम-नियम का पालन व मन-इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रखते।
११. उपासना काल में आसन ठीक नहीं लगाते। प्राणायाम और जप विधिवत् नहीं करते।
१२. सन्ध्या के मंत्रो के शब्दार्थ ठीक प्रकार से स्मरण नहीं करते।
१३. शब्द प्रमाण में हमारी श्रद्धा और विश्वास अल्प है।

उपासना काल में नींद का कारण और निवारण

ध्यान के समय में नींद को या आलस्य को रोकना आवश्यक होता है। अनेक साधकों को तो यह पता भी नहीं चलता कि वे ध्यान करते हुए सो जाते हैं। अनेकों को पता तो चल जाता है, किन्तु उपासना काल में नींद या आलस्य क्यों आता है, वे कारणों को ठीक-ठीक जान नहीं पाते हैं। नींद तथा आलस्य आने के कुछ कारणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है -

(१) रात्री में नींद पूरी नहीं होना या अच्छी न होना।
(२) पेट की शुद्धि न होना - (शौच खुलकर न आना)।
(३) शारीरिक परिश्रम या व्यायाम अधिक मात्रा में करना।
(४) भोजन प्रतिकूल, गरिष्ठ (=भारी), अधिक मात्रा में करना।
(५) तामसिक या नशीली वस्तु (= तम्बाकू भांग आदि) का प्रयोग करना ।
(६) शरीर में ज्वरादि रोग का होना।
(७) शरीर मे निर्बलता का होना।
(८) आसन ठीक प्रकार से नहीं लगाना (=कमर सीधी करके न बैठना)।
(९) उपासना से पूर्व स्नान न करना।
(१०) उचित मात्रा में व्यायाम, भ्रमण, आसन आदि न करना।
(११) ठण्ड के दिनों में रजाई आदि गर्मी देने वाले वस्त्रों को अधिक मात्रा में धारण करना (ओढ़कर बैठना)
(१२) मानसिक परिश्रम अध्ययन-चिन्तन आदि अधिक करना।
(१३) आलसी व्यक्तियों के साथ बैठना।
(१४) सन्ध्या के मन्त्रों का शब्दार्थ न जानना।
(१५) उचित मात्रा में प्राणायाम न करना।
(१६) ईश्वर के प्रति प्रेम, श्रद्धा, रुचि का न होना।
(१७) योगाभ्यास के महत्त्व या लाभों को न समझना।

साधक लोगों को देखना चाहिए कि उपर्युक्त कारणों में से कौन सा कारण मुझ पर लागू होता है। उसे जानकर दूर करना चाहिए, जिससे योगाभ्यास में सफलता मिले।

योगी बनने का उपाय - आत्मनिरीक्षण

मनुष्य यदि अपने जीवन को दिव्य, श्रेष्ठ, आदर्श, महान् बनाना चाहता है तो नित्य सोने से पूर्व आत्मनिरीक्षण करे, अपने अन्त:करण में झाँके कि दिन भर मैंने क्या-क्या त्रुटियाँ-दोष-भूलें की हैं। विचारें 'क्या किया जो नहीं करना चाहिये था और क्या नहीं किया जो करना चाहिये था'। त्रुटियों को पकड़ें, प्रायश्चित्त करें, स्वयं दण्ड लें और भविष्य में न करने का प्रयत्न करें। कोई व्यक्ति बाहरी तौर से कितना ही धन से, बल से, कपड़ों से

साफ-सुथरा सभ्य और सबल हो, परन्तु अन्त:करण से मलिन, कमजोर, खिन्न व दु:खी होगा तो वह गिर जायेगा।

बाह्य दु:ख के बजाय मानसिक शोक-दु:ख-पीड़ा-काम, क्रोध, लोभ, मोह से व्यक्ति अधिक दु:खी रहता है। आज चिन्तन की शैली उलटी है। व्यक्ति अन्य के दोष तो देखता है परन्तु स्वयं के नहीं। चाहे कोई कितना ही पढ़ लिख जाये, परन्तु जब तक कथनी-करनी एक न होगी तब तक ऋषियों का जमाना धरती पर नहीं उतारा जा सकता।

अपने आप को व्यक्ति बढ़ा-चढ़ा कर दूसरे के सामने पेश करने का प्रयत्न करता है कि उसे यश-बड़ाई-मान मिले, परन्तु आगे चल कर यह उसके हास्यास्पद पतन का कारण होता है। ईश्वर विश्वासी को भौतिक साधनों द्वारा अपने को बड़ा दर्शाने की आवश्यकता नहीं है।

आज माता-पिता, शिक्षक-गुरु, समाज व राज दण्ड का भय समाप्त हो गया है अत: अपराध बहुत बढ़ गये हैं एक व्यक्ति अपनी क्रिया से सैकड़ों हजारों को दु:खी करता है; परन्तु आत्मनिरीक्षण करने वाला स्वयं अपनी त्रुटियों को, उलटी आदतों को पकड़ता, सुधारता, दूर करता जाता है।

महत्त्व - एक आध्यात्मिक व्यक्ति के लिये वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों को पढ़ने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपने मन को पढ़ना है। प्रशंसा का मोह, यश की कामना, आहंकारिक प्रतिक्रिया आदि वस्तुओं को छोड़ना साधक के लिये अनिवार्य है।

यदि अन्त:करण ठीक होगा तो सब कार्य सफल होंगे। अगले जन्मों में साथ चलने वाली वस्तु अन्त:करण है। सांसारिक उपकरण यहीं रह जायेंगे। वेद में कहा है **'कृतं स्मर'** = अपने किये कर्मों को देख। आन्तरिक शल्य चिकित्सा तो स्वयं करनी पड़ती है। अपने अन्त:करण को स्वयं देखें। आन्तरिक शुद्धि हमें ही करनी पड़ेगी। नित्य देखें की काम की वासना, क्रोधाग्नि, द्वेषादि पहले थे वैसे ही हैं या कुछ कम हुए ?

कर्मों का लेखा-जोखा देखने के साथ इन दोषों का निरीक्षण-परीक्षण भी करते जायें। अपने जीवन की ऋषियों आप्त पुरुषों के जीवन से तुलना करें, उन्होंने क्या किया क्या नहीं किया व हमने क्या किया क्या नहीं किया। हमारा जीवन सत्पुरुषों जैसा है या पशु समान। आन्तरिक निर्माण के बिना सुख-चैन-शान्ति नहीं। अगले जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के संस्कार ही, सम्पत्ति के रूप में साथ जायेंगे, अन्य कुछ नहीं। बाहर से तो चमक-दमक

पर अन्दर निपट अन्धेरा। व्यक्ति अपने दोषों को छिपाता है। पर ईश्वर से कुछ नहीं छिपा सकता। ईश्वर सब कुछ देख-सुन-जान रहा है।

एक दोष आ जाये तो उसके साथ-साथ अनेक दोष प्रवेश कर जायेंगे, एक सद्गुण जायेगा तो साथ में अनेक सद्गुण चले जायेंगे। एक दोष बीड़ी-सिगरेट का आने से फिर शराब, क्लब, जुआ, देर में सोना-उठना, प्रमाद-आलस्य, झूठ-कपट-क्लेश, टन्टा-फिसाद एक के पीछे एक ऐसे अनेक दोष व्यक्ति में प्रवेश कर जाते हैं। एक गुण-नियम 'यज्ञ करना' अपनाने से प्रात: उठना, स्नान, व्यायाम, सत्संग, वेदपाठ, सन्ध्या, फिर समय पर सांसारिक कार्यों में जुटना आदि अनेक गुण प्रवेश कर जाते हैं। शुद्ध ज्ञान वाला ही दोषों से बच सकता है वरना गिरता-गिरता व्यक्ति कहाँ का कहाँ गिर जाता है। कामी में अन्य दस दोष अपने आप आ जाते हैं। क्रोधी को आठ दोष स्वयं आ जाते हैं।

जो खराब जानकर भी छोड़ते नहीं और अच्छा जानकर भी अपनाते नहीं वे असफल हैं। जो छूटने वाली हैं उन चीजों को एकत्र कर रहे हैं, जो साथ जायेगा उसका धर्म का बैंक बैलेन्स शून्य है।

आत्मा की वास्तविक इच्छा - स्वतन्त्रता, आनन्द, ईश्वर-प्राप्ति है। दोषों से युक्त रहे या मुक्त रहे यह स्वयं के हाथ में है। जो लोग अपने अधिकारियों के समक्ष अपने दोष बतला देते हैं वे पवित्र हो जाते हैं।

दोषी होने के चार कारण

(१) जो व्यक्ति ईश्वर को छोड़ देता है वह स्वयं भूल और दोष करता है।

(२) माता-पिता, गुरु-आचार्य, मित्रों आदि के द्वारा भी व्यक्ति में दोष आते हैं। माता-पिता स्वयं बच्चों को मांसाहारी बनाते हैं। उपरोक्त मातापिता आदि ठीक हों तो सुधरने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(३) समाज की परम्परायें, शैली, ढांचे के कारण भी दोष आ जाते हैं। आज लोग खुल्लम-खुल्ला शराब पीते हैं, जुआ खेलते हैं, बीभत्स बोलते हैं। तुझे क्या और मुझे क्या यह परम्परा चली हुई है। कोई रोक-टोक नहीं।

(४) राज्य-शासन गलत होने से भी जीवन पद्धति में बड़ा परिवर्तन होता है।

यदि हम पुरुषार्थ करें तो अन्यों से प्राप्त दोषों को हटा सकते हैं। गलत विचार उठने पर 'प्रतिपक्षभावना' उठायें तो दोष दब जाते हैं, कमजोर हो जाते हैं, अंत में दग्धबीज हो जाते हैं। अपने दोषों को जड़ मानकर उनको हटाने का प्रयत्न करें। ज्यों ही दोष उत्पन्न हों तुरन्त एक तरफ धकेल दें। उससे विरुद्ध विचारना आरम्भ कर दें।

दोषों के विषय में मनुष्यों की स्थिति

१. कुछ लोग दोषों को जानते ही नहीं।
२. कुछ लोग जानते हैं पर दूसरे व्यक्ति से दोष सुनना नहीं चाहते।
३. कुछ लोग सुन लेते हैं पर स्वीकार नहीं करते।
४. कुछ लोग वाणी से तो स्वीकार कर लेते हैं पर मन से नहीं।
५. कुछ लोग मन से स्वीकार करके भूल जाते हैं।
६. कुछ लोग दोष हटाने के लिये पुरुषार्थ नहीं करते।
७. कुछ लोग पुरुषार्थ करते हैं पर उचित उपायों को नहीं जानते।
८. कुछ लोग असफल होने पर निराश हो जाते हैं।
९. कुछ लोग ईश्वरादि से सहयोग नहीं लेते हैं।
१०. कुछ लोग दोषों को दबाये रखते हैं। तनु करते हैं = कमजोर करते हैं।
११. कुछ दग्धबीज भाव बना लेते हैं, जिससे आगे कभी दोष नहीं होते।

मन-वाणी-कर्म से एक होने पर मनुष्य पवित्र हो जाता है। जो व्यक्ति ईश्वर को साथ लेकर चलता है वही दोष रहित होता है। दोष आने के समय सतर्क हो जायें। पुरुषार्थ से, मन को विचलित करने वाली तरंगों को रोक दें। साधक दोष को चाहते नहीं फिर भी हो जाते हैं। इसका एक कारण है कि साधक उन्हें रोकने के उपाय नहीं जानता। अभद्र करने के बाद हताश निराश होकर पुरुषार्थ करना छोड़ देता है। ऐसी अवस्था में दोष आने पर प्रतिपक्ष भावना उठाएँ। आपत्तिकाल में ईश्वर सब से बड़ा सहयोगी होता है। उससे शान्तचित्त होकर सहायता मांगो, धैर्य-ज्ञान-बल मांगो। उलटे काम करने की अभद्र भावना हो तब अवश्य उसे पुकारें। यह दोष दूर करने की विधि है, एक विज्ञान है। काम, क्रोध, लोभ आदि आ सकते हैं, पर मैं इन्हें हावी नहीं होने दूँगा, इन पर हावी हो जाऊँगा। एक विषय पर अच्छे - बुरे दो तरह के संस्कार काम करते हैं। करूँ या न करूँ। किसी की वस्तु ले

लूँ, कौन देखता है, फिर सोचता है नहीं लूँगा। पुनः सोचता है आज अवसर है, इस बार ले लूँ, फिर नहीं लूँगा, इत्यादि विचारते-विचारते ले ही लेता है परन्तु जो ईश्वर को सामने रखता है वह बच जाता है।

दोषों के जाननेवालों से सहायता

सुख शान्ति केवल बाह्य, सुन्दर निर्माण पर नहीं परन्तु आन्तरिक निर्माण पर निर्भर है। इन-इन दोषों के जानने वालों से सहाय लेकर इनको दूर करने का उपाय करें।

१. कुछ दोष केवल हम जानते हैं। जैसे मानसिक काम, क्रोध, लोभ, हिंसा की भावना आदि।
२. अपने कुछ दोष हम नहीं जानते दूसरे जानते हैं।
३. कुछ को अन्य और हम-दोनों जानते हैं।
४. कुछ दोष विद्वान् जानते हैं।
५. कुछ दोष योगी-ज्ञानी ही जानते हैं।
६. सब दोष तो केवल ईश्वर ही जानता है।

अपनी तुलना ऋषियों से करने पर दोषों का पता लगाकर पुरुषार्थ करके सुधार सकते हैं। यदि दोष नहीं जानते-पकड़ते और जीवन जैसा चल रहा है उसी में सन्तुष्ट हो गये तो प्रगति रुक जायेगी। जैसे संविधान न जाना हुआ, न पढ़ा हुआ भी यदि गुनाह करता है तो उसे भी दण्ड अवश्य मिलता है। इसी प्रकार वेद व ऋषिकृत ग्रन्थ नहीं पढ़ा हुआ भी यदि उनके प्रतिकूल चलता है तो दोषी है। यदि गृहस्थी पञ्चमहायज्ञ नहीं करता तो वह ईश्वर विधान के अनुसार दोषी है व दण्डित होगा जो व्यक्ति एकान्त में बैठ अपने जीवन में झाँक कर अन्तःकरण को चमकाते नहीं उन्हें शान्ति और आनन्द कहाँ ?

ईश्वर के पा लेने पर सारे प्राणी आत्मवत् दीखने लगते हैं। सामान्य व्यक्ति जिस जीव से कुछ लाभ प्राप्त करता है उससे तो प्रेम, राग व आसक्ति रखता है और अन्यों में वैसा प्रेम, हित की भावना नहीं रखता है यह व्यक्ति में दोष रहता है। प्रायः देखने में आया है कि व्यक्ति जितना अपना हित चाहता है उतना अन्य का नहीं चाहता। परन्तु ईश्वर प्राप्त योगी इतना ही नहीं आत्मवत् से भी आगे बढ़कर स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरे को सुख देता है। स्वयं दोष करके व्यक्ति अपने आत्मा को कोमल (नरम) निगाह से देखता

है। परन्तु वही दोष अन्य करे तो कठोरता से देखता है। अपना बच्चा मारे तो कोई बात नहीं बालक है, दूसरे का मारे तो कुहराम मचा देते हैं।

योगाभ्यासी व्यक्ति पहले अपना दोष देखते हैं। साधकों में अन्य के प्रति आत्मवत् भावना उभरती है। जहाँ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वहाँ अज्ञान नहीं रहता। शोक, मोह, अविद्या समाप्त हो जाती है। अविद्या ही सारे अनिष्टों का कारण है। अज्ञान न रहने से परिणाम में आनन्द की उपलब्धि होती है। अज्ञान दोष की निवृत्ति से काम, क्रोध, अधर्माचरण, अन्याय, असत्याचरण आदि स्वयं हट जाते हैं।

व्यक्ति अपने दोषों से समझौता कैसे करता है ?

(१) आज तो सारी दुनियाँ ही झूठ, छल-कपट आदि का व्यवहार करती है। मैं अकेला इनसे कैसे बच सकता हूँ। मुझे भी तो इस दुनियाँ में जीना है।

(२) मैं कोई योगी, ऋषि, महात्मा नहीं हूँ कि मुझसे कोई दोष या भूल न होवे।

(३) आटे में नमक के बराबर झूठ आदि तो चलते हैं यह कोई बड़ा दोष नहीं है, ऐसा विचारना।

(४) अधिक दोषी को देखकर यह विचारना कि मैं तो उससे बहुत कम दोष करता हूँ।

(५) जिन दोषों को हम छोड़ना (सुधारना) नहीं चाहते उन्हें उत्तम स्वरूप दे देना है।

(६) अपनी छोटी त्रुटियों को एक दम स्वीकार करना, यह दिखाने के लिये मेरे में कोई बड़ा दोष नहीं है।

दोषों से मुक्ति कैसे हो ?

बालकों को मातायें बिगाड़ती हैं। वे बच्चे को कहती हैं "तू बड़ा अच्छा है" इससे वह बालक कुप्पा (अभिमानी) होता जाता है। फिर जब कोई उसके दोष कहे तो वह गुस्सा हो झगड़ा करता है - रोने लगता है। दोष बतानेवाला हमारा हितैषी होता है, सुनने में आनन्द अनुभव करना चाहिये। जो दोषों को मानता हुआ भी दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा वह कभी भी दोष से छूट नहीं सकता। भूल से झूठा दोष कहने वाले की बात से भी दुःखी

न हों। जो दोष बताने वाले को निर्भीक कर देता है उसे लोग दोष बतायेंगे, यदि दोष बताने वाले पर नाराज होंगे तो कोई दोष नहीं बतायेगा। दोष बताकर कौन लड़ाई मोल ले ? यदि दोष से सन्धि कर ली तो सौ वर्ष में भी नहीं छूटेगा।

मनोनियन्त्रण द्वारा दोष निवृत्ति

(१) अन्य के लगाये हुए झूठे आरोपों को हम स्वीकार न करें तो दुःख न होगा।

(२) ऐसा कोई व्यक्ति न हुआ, न है और न होगा जिस पर आरोप या आक्षेप न लगा हो। ईश्वर भी इससे अछूता नहीं।

(३) झूठे आरोप, अन्याय आदि रुकेंगे नहीं, परन्तु अपने संस्कारों को ऐसा बांध करके रखें कि वे भड़कें नहीं।

(४) हम दुसरों की वाणी से दुःखी होते हैं तो उसके कारण हम ही हैं। बिना विचलित हुए सहन करना सीखें।

(५) अपने मन में आग लगाने वाले हम ही हैं। दृढ़ संकल्प करें कि दुनियाँ का कोई भी व्यक्ति, अपने कटु विचार या वाणी से मुझे विचलित नहीं कर सकेगा।

(६) अष्टांग योग से मन का नियंत्रण होगा। यह ईश्वर की उपासना से होगा। 'हे ईश्वर! मुझे शक्ति दो इन आरोपों से मैं न तो विचलित होऊँ और न ही उससे दुर्भावना रखूँ।'

(७) सुखी लोगों की विनम्रता उनके मन की शान्ति पर आधारित मैत्री है। और मन की शान्ति धर्मानुष्ठान से प्राप्त प्रसन्नचित्तता से उत्पन्न होती है।

शयन पूर्व आत्मावलोकन

इन क्षणों में कुछ इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहिये।

(१) कहीं मेरा व्यवहार समाज के व्यापक हितों का विरोधी तो नहीं है ?

(२) मैंने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये किसी को पीड़ित या वंचित तो नहीं किया ?

(३) अच्छे और बुरे का, उचित और अनुचित का विवेक करने में कहीं भूल तो नहीं हुई ?

(४) मैंने कितना निर्माण किया और कितना विध्वंस ?
(५) अपेक्षित व्यक्तियों और कार्यों के साथ क्या सहयोग किया ?
(६) अवांछनीय तत्त्वों व घटनाओं का विरोध कर सका या नहीं ?
(७) सामाजिक अन्याय और शोषण में मैं भागीदार बना, उसका शिकार हुआ या सक्षम प्रतिकार किया ?
(८) भविष्य में परिस्थिति विशेष में मेरा व्यवहार और प्रतिक्रिया कैसी होनी चाहिये ?
(९) ईर्ष्या, द्वेष, जलन, डाह आदि से तो युक्त नहीं हुआ ?
(१०) मेरे कारण किसी प्राणी की हिंसा तो नहीं हुई ?
(११) देश धर्म व मानव समाज के रक्षार्थ कोई परोपकार का कार्य किया ?
(१२) मेरे स्वभाव-वाणी-वर्ताव से कोई दु:खी तो नहीं हुआ ? कोई पीड़ित, खिन्न, भयभीत वा त्रस्त तो नहीं हुआ ?

हमारे जीवन में दु:ख का कारण क्या है, उसे पकड़ने के लिये आत्म-निरीक्षण करें। हम क्रियाव्यवहार, वाणी आदि में दोष करते हैं, उसके पीछे हमारा अज्ञान है, कुवासनाएँ हैं। कूड़ा-कचरा देखेंगे ही नहीं तो साफ क्या करेंगे ? अत: पहले सूक्ष्मता से दोषों को पकड़ें फिर दूर करें।

मानव का एक भयंकर दोष - सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में उद्यत नहीं होता।

ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान - समाधि का विशिष्ट साधन है।

(१) प्रणिधानात् भक्तिविशेषात्। (यो. द. १/२३ व्यास भाष्य) ईश्वर की विशेष भक्ति करना अर्थात् ईश्वर में सर्वाधिक प्रेम का होना ।

(२) ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।
(यो.द. २/१ व्यास भाष्य)। आत्मा, मन, वाणी और शरीर से की जाने वाली सब क्रियाओं को ईश्वर समर्पित कर देना और लौकिक फल न चाहना।

(३) ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् ।
(यो.द. २/३२ व्यास भाष्य)। उस परम गुरु परमात्मा के प्रति सब कर्मों को अर्पित कर देना अर्थात् ईश्वराज्ञानुसार सब क्रियायें करना ।

साधक जप में कभी-कभी पाठ करता है पर अर्थ का विचार नहीं कर पाता। कभी पाठ और अर्थ का विचार दोनों भी कर लेता है पर ईश्वर समर्पित नहीं हो पाता। कई बार समर्पित होता है तो पाठ नहीं कर पाता। जब ये तीनों कार्य होते हैं तो ध्यान की सफलता मानी जाती है।

ईश्वर समर्पण होने में तीन साधनों से काम ले सकते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण, शब्द प्रमाण व अनुमान प्रमाण से। जब ईश्वर प्रत्यक्ष है नहीं तो समर्पण कैसे हो ? प्रत्यक्ष तो समाधि अवस्था में होता है। अत: सामान्य साधकों का अनुमान व शब्द प्रमाण से समर्पण हो सकता है।

शब्द प्रमाण से जाना कि ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर है। अनुमान इस संसार को देखने से लगता है कि इसको चलाने वाला कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ही हो सकता है।

ईश्वर की अनन्य भक्ति, उसमें तल्लीन होने की स्थिति में अपने आप को समर्पित करना, ईश्वर की आज्ञा का पालन करना ऐसा ईश्वर प्रणिधान समाधि का एक विशेष साधन है। यदि यह वैदिक रीति से साधक को करना आ जाये तो शीघ्र समाधि लग जायेगी।

ईश्वर साक्षात्कार करने पर योगी प्रत्यक्ष प्रमाण की सहायता से ईश्वर प्रणिधान करते हैं। अन्य साधक अनुमान और शब्द प्रमाण से ईश्वर प्रणिधान करते हैं। अन्य सब कुछ छोड़कर ईश्वर ही प्रापणीय है। सुनी, सीखी हुई बात को क्रिया रूप में कैसे लायें ? इसे प्रात: सायं व्यक्तिगत उपासना में क्रियारूप में लाया जाता है। ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयोग करें। प्रणिधान करते समय ईश्वर से माता-पिता, स्वामी, राजा, व्याप्य-व्यापक आदि सम्बन्ध रहने चाहिए।

(१) सब कुछ परम गुरु परमेश्वर के अर्पण कर देना। जैसे इस सत्संग भवन में रहन-सहन, योगाभ्यास आदि करते हैं फिर भी इसे अपना नहीं समझते हैं। इसी प्रकार इस संसार व इसके पदार्थों को ईश्वर का मानकर उपयोग तो करें, परन्तु अपना स्वामित्त्व मान कर न चलें।

(२) यह शरीर हमें ईश्वर से मिला है। हम तो इसमें किराये पर हैं। इसके प्रयोक्ता हैं, मालिक नहीं। जिस बुद्धि पर अभिमान है वह भी ईश्वरप्रदत्त है। यदि ईश्वर अपनी दी हुई सब वस्तुएँ ले-ले तो अकेला जीवात्मा कुछ भी नहीं कर सकता। ईश्वर की दी हुई वस्तु अपनी मानने

लग जाते हैं तो यह चोरी है। कर्मों का फल मिलेगा फल की इच्छा छोड़ देना ईश्वर प्रणिधान है।

(३) सब मनुष्यों व प्राणियों को प्रभु के परिवार के सदस्य समझना। **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** का व्यवहार ईश्वर प्रणिधान है।

ईश्वर प्रणिधान की विधि

(१) ईश्वर के स्वरूप को जानना।
(२) सब पदार्थों का आदि मूल ईश्वर को समझना।
(३) सब साधनों का प्रयोग ईश्वर की आज्ञानुसार करना।
(४) लौकिक फलों की कामना न करना।
(५) ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है ऐसा विचार बनाये रखना। स्वयं को ईश्वर में डूबा हुआ जानना।
(६) ईश्वर के कारण मैं कार्य करने में समर्थ हुआ हूँ, ऐसा ज्ञान बनाये रखना।
(७) प्रथम स्थूल कार्यों फिर सूक्ष्म कार्यों को करते हुए ईश्वर समर्पित रहना।
(८) कार्यारम्भ से पहले ईश्वर की आज्ञा लेना, अन्त में धन्यवाद देना।
(९) ईश्वर के लिये 'यह-वह' शब्द के प्रयोग की जगह 'आप' का प्रयोग करना।
(१०) प्रत्येक कार्य की सफलता हेतु उसकी सहायता चाहना।

ईश्वर प्रणिधान में जीव की स्थिति

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः। (ऋग्. ८-४४-२३)

अर्थ - (अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप (यद् अहम् त्वं स्याम्) जब मैं तू हो जाऊँ **(वा घा)** या **(त्वं अहं स्याः)** तू मैं हो जाये, तो **(ते इह आशिषः)** तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद **(सत्याः स्युः)** सत्य / सफल हो जायें।

जब यह मित्रवत् एकात्मता की स्थिति ईश्वर-प्रणिधान से उत्पन्न होती है तो ईश्वर जीव को शीघ्र अपना कर उसे अपने ज्ञान-बल-आनन्द से कृतकृत्य कर देता है। यह ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर में अनन्य प्रेम, अटूट भक्ति, श्रद्धा, विश्वास) योग की विशेष वस्तु है। इससे साधक को शीघ्र सफलता मिलती है।

योगी व्यक्तियों का दिनभर ईश्वर समर्पण बना रहता है। प्रत्येक कार्य करते हुए प्रत्येक क्षण ईश्वर को समक्ष रखकर अन्तर्मन से समर्पित रहते हैं। परिणाम स्वरूप इससे -

(१) व्यक्ति के सब उचित कार्य सिद्ध होते हैं। वह विद्या सहित होकर राग, द्वेष, काम, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि से मुक्त रहता है।
(२) व्यक्ति कभी हताश-निराश नहीं होता।
(३) शीघ्र ही समाधि को प्राप्त होता है।
(४) सब कार्य ईश्वर की आज्ञा जानकर निष्काम भाव से करता है। सकाम-कर्त्ता प्रणिधान की स्थिति नहीं बना पाता।

पूर्वोक्त सफलता के लिए अनुमान और शब्द प्रमाण से यह भावना बनानी पड़ेगी कि ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है और यह बात मन में बैठानी पड़ेगी कि मेरा और ईश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होने से मैं ईश्वर में ही हूँ और ईश्वर मेरे बाहर भीतर सर्वत्र है। हम ईश्वर में ही जन्म लेते, पलते और शरीर छोड़ते हैं। ईश्वर यदि हम जीवात्माओं को शरीर नहीं देता तो हम अपनी अनुभूति भी नहीं कर सकते। प्रलय में पत्थर के समान मूर्छित से पड़े रहते हैं। शरीर, बुद्धि, मन आदि साधन बिना ईश्वर की सहायता के कुछ भी नहीं कर सकते। 'यह सब स्वयं हो रहा है' यह मिथ्या ज्ञान बना रहेगा तो ईश्वर की अनुभूति नहीं होगी। यह सब किसी न किसी तत्त्व (ईश्वर) द्वारा बनाया हुआ है। क्योंकि बिना बनाये कोई भी जड़ पदार्थ कार्यरूप नहीं बन सकता।

प्रारम्भिक काल में आँख बन्द करके अन्तर्वृत्ति बनायें। बाह्य विषयों का विचार बन्द होने पर ही ईश्वर की अखण्डित उपासना कर पायेंगे। ईश्वर से सन्निकटता स्थापित करने के लिये 'आप' शब्द का प्रयोग करें। "आप हमारे पिता हैं" यह सम्बोधन करें।

सफलता के लिये ईश्वर सहाय सदा मौजूद जानें। शब्द व अनुमान प्रमाण से जैसे टी.वी. उद्घोषक जानता-मानता है कि लाखों करोड़ों मुझे देख व सुन रहे हैं तो वह गलत हलन-चलन किये बिना स्वस्थ सावधान होकर ठीक बोलता है। इसी प्रकार उपासक भी जाने कि ईश्वर मेरी प्रत्येक क्रिया-हरकत, यहाँ तक कि मनोभाव भी देख, सुन, जान रहा है।

साधकों का ईश्वर पर शाब्दिक विश्वास तो है पर तात्त्विक विश्वास नहीं, वरना व्यक्ति कोई उलटा कार्य करे ही नहीं। ईश्वर का महत्त्व (मूल्य) समझने जानने से ईश्वर-प्रणिधान होता है। ईश्वर से प्राप्त सुख का ज्ञान होने पर ईश्वर में रुचि होगी। इन्द्रियों से जो सुख भोग रहे हैं वह दुःख मिश्रित व क्षणिक होता है और उसको भोगने का सामर्थ्य भी कम होता जाता है। इन्द्रियों के विषय अनित्य हैं अतः उनसे प्राप्त सुख भी अनित्य होते हैं। दूसरे पक्ष में भोगने वाला आत्मा भी नित्य और ईश्वरानन्द रूप भोग्य भी नित्य है। कोई भी भौतिक सुख अन्य प्राणियों को दुःख दिये बिना नहीं भोगा जा सकता। परन्तु ईश्वरीय आनन्द तो अन्य प्राणियों को पीड़ा दिये बिना ही मिल जाता है।

ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्धि

यदि व्यक्ति ईश्वर प्रणिधान विधि पूर्वक कर लेता है तो समाधि की सिद्धि होती है। सब क्रियाओं को परम गुरु के अर्पण कर देना और उनका कोई लौकिक फल न चाहना।

व्यक्ति जीवन में सतत मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियायें करता रहता है। इन सब क्रियाओं को ईश्वरार्पण करना और कुछ भी फल नहीं चाहना। देखो जैसे एक बालक अपने गुरु जी के पास बैठा हुआ पढ़ता है। इसी तरह हम जीवात्माओं को मानसिक, वाचिक व शारीरिक रूप से ईश्वर के सम्मुख होकर ही सब करना है। यह कठिन इसलिये लगता है कि इसे न माता-पिता ने, न गुरु ने किसी ने भी नहीं सिखाया। और जो बात या विद्या व्यवहार में नहीं लाई जाती वह भी कठिन लगती है और पूरी तरह समझ में भी नहीं आती।

हम जो सोचते-विचारते हैं क्या उसको ईश्वर नहीं देखता-जानता? एक तो श्रद्धा पूर्वक अर्पण कर देना, दूसरा बलात् करना। अच्छे बालक स्वयं चाव-चाव में किये गये पाठ (कार्य) को दिखाते हैं। पर चालाक बालक दोष को लुक-छिप कर इधर-उधर करते हैं। श्रद्धा पूर्वक स्वयं समर्पित कर दो कि हे ईश्वर! यह हाथ, पाँव, नाक, मुंह, शरीर, मन, बुद्धि, सब आपके बनाये हुए हैं और यह जल थल, फल, फूल सब आपने बनाये हैं सो आपसे ओट कभी न हुई न होगी। हमारा क्या लगता है इन ईश्वर की चीजों को उसकी मानने से? बल्कि इसका लाभ है ईश्वर हमारा सहायक

हो, हमारी समाधि लगा, अपने ज्ञान-बल-आनन्द दे देगा। ऋषि कहते हैं- ईश्वर से अत्यन्त प्रेम करना, अपने प्राणों से भी अधिक, इसे भक्ति कहते हैं। उसकी आज्ञा का पालन करना, सब क्रियाओं व चीजों को ईश्वर की मानकर प्रयोग करना, यह बातें दिमाग में रखें। प्रथम सन्ध्या में, फिर व्यवहार में दिन भर के जीवन में ईश्वर के अर्पण रहने का अभ्यास करें। फिर सतत् सब कार्य करते हुए भी समाधि रहती है। यह ऐश्वर्य प्राप्त करना हमारे हाथ में है फिर भी नहीं प्राप्त करते। कहा भी है-

आनन्द स्रोत बह रहा, फिर भी उदास है।
अचरज है जल में रहके भी मछली को प्यास है॥

हमारा व ईश्वर का सम्बन्ध - ईश्वर हमारा माता-पिता, गुरु, शासक, नियन्ता, पालक है। फिर भी जीव उसको भूलकर संसार में टक्कर मारता फिरता है। संसार को अपना समझकर दुःखी होता है। प्रथम सन्ध्या-उपासना में ईश्वर सम्बन्ध को कायम रखें कि जो कुछ हम करते हैं वह सब ईश्वर देखता है, तो धीरे-धीरे ईश्वर से हमेशा के लिये सम्बन्ध जुड़ जाता है।

समर्पण भाव में ईश्वर की खोज - जब ध्यान में बैठते हैं तब आत्म-निरीक्षण करें कि क्या ईश्वरार्पित हूँ? साधक भूल करता है कि ईश्वर को कहीं दूर देश में मानकर उसका ध्यान करता है। जैसे हमारे दिमाग में रहता है कि वह ईश्वर हमारा राजा, गुरु, पिता है, वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायकारी है। 'वह' शब्द का प्रयोग करते समय ईश्वर को कहीं दूर देश में मान रहा होता है। 'वह' से आगे दिमाग दौड़ाओ। फिर साधक ईश्वर को सब जगह शरीर के बाहर-भीतर, दायें-बायें, ऊपर-नीचे स्वीकार करता है पर शरीर में भी है। उसे मस्तक, हृदय, नाभि में भी मानता है परन्तु स्वयं आत्मा को छोड़ देता है, तो इस भूल से भी ईश्वर प्राप्ति नहीं होगी। जहाँ दोनों बैठे हैं वहाँ दर्शन होगा। जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में देखने से वह दिखाई देगी। जब जीव में भी ईश्वर है तो वही दिखाई देगा। जब देखना चाहेगा तब ईश्वर का दर्शन होगा, सर्वव्यापक का दर्शन वही आत्मा में होगा। 'ब्रह्मवित् ब्रह्मवत् बन जाता है' इस भावनात्मक कथन को अन्यों ने सिद्धान्त रूप में मान लिया और भूल कर बैठे।

रसो वै सः । ईश्वर आनन्द स्वरूप है, उसके सेवन से जीवात्मा आनन्दी तो बन जाता है पर आनन्द-स्वरूप नहीं बनता। आत्मनिरीक्षण करें कि क्या हम अपने अन्दर बाहर ईश्वर को विद्यमान मानकर समर्पित हो रहे हैं ? इस ध्यान में पिता-पुत्र, उपास्य-उपासक आदि का सम्बन्ध रहता है या नहीं ? शीघ्रता से कोल्हू के बैल की तरह बार-बार जप करने से कोई लाभ नहीं। माला करने वाले लाख-लाख जप करते हैं ईश्वर-समर्पण के बिना सब निरर्थक रहता है।

ईश्वर प्रणिधान से लाभ

(१) राग, द्वेष आदि दु:ख नहीं देते।
(२) शरीर, मन व इन्द्रियों पर नियन्त्रण रहता है।
(३) ईश्वर से ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता की प्राप्ति होती है।
(४) स्वार्थ की भावना दबकर परोपकार की भावना उभरती है।
(५) अभिमान व निराशा का नाश होता है।
(६) व्यक्ति के कर्म निष्काम होते हैं।
(७) विषय भोगों की तृष्णा (रुचि) समाप्त हो जाती है।
(८) आलस्य-प्रमाद दूर होता है।
(९) आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।
(१०) शीघ्र समाधि की प्राप्ति होती है।

ईश्वर प्रणिधान का फल

योग दर्शन के साधन पाद के सूत्र ४५ में ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि सिद्धि बताया है **'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'।** जिसके द्वारा देशान्तर, देहान्तर तथा कालान्तर के पदार्थ को योगी जान लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राय: ऐसा देखा जाता है कि सामान्य व्यक्ति एक वस्तु के जानने के बाद उसी प्रकार की (कुछ परिवर्तन के साथ) अन्य वस्तु को नहीं जान पाता है। इसलिये वह एक प्रकृति के ही अन्य विभिन्न विकारों को देखकर मोहित अथवा आकृष्ट हो जाता है। एक स्त्री से विरक्त होकर भी अन्य स्त्री के प्रति आकृष्ट हो जाता है। परन्तु समाधि सिद्धि को प्राप्त योगी पुरुष में ऐसा नहीं होता है। क्योंकि वह जानता है कि संसार में तीन पदार्थ ही नित्य हैं ईश्वर-जीव-प्रकृति और वे चाहे किसी अन्य देश में हों, अन्य काल

में हों अथवा अन्य शरीर में हों उनके गुण सदा समान ही होंगे। योगी पुरुष इन तीनों पदार्थों के यथार्थ स्वरूप (गुण-कर्म-स्वभाव) को जान लेता है कि कौन सी वस्तु उपादेय और कौन सी त्याज्य है। जैसे थोड़े बहुत आकृति व रंग भेद के सिवाय सब देश या भू-खण्डों पर एक ही प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हैं।

एक लक्ष्य होने से योग के सभी अङ्गों का एक साथ ही अभ्यास क्रियान्वयन जरूरी है, फिर भी ईश्वर प्रणिधान होने से योगी को समाधि शीघ्र प्राप्त होती है। इसके बिना योग के दूसरे अंग अपूर्ण हैं।

ईश विश्वास - ईश कृपा

विश्वास से लाभ - जो निर्भयता व आनन्द एक आस्तिक को मिलता है वह नास्तिक (चाहे कितना ही साधन-सम्पन्न हो) नहीं प्राप्त कर सकता। वह योगी जैसा चरित्रवान् परोपकारी नहीं हो सकता।

ईश्वर को न मानने वाले ही नास्तिक नहीं हैं। गलत रूप में मानने वाले तथा शाब्दिक रूप में सही मानने वाले आचारहीन भी नास्तिक ही हैं।

मोक्ष प्राप्ति में सब से बड़ी बाधा ईश्वर में विश्वास नहीं होना है। इसका कारण है कि हमें जिस वस्तु में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द दीख पड़ते हैं उसी का विश्वास करने की आदत पड़ी हुई है।

ईश्वर को मानने का अर्थ है, ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना व उसकी उपासना करना। जो ईश्वर निर्दिष्ट शुभ कर्मों को करता है वह सुख लाभ पाता है। उसकी आज्ञा का पालन न करके उसे केवल शाब्दिक रूप में मानने से कुछ नहीं बनता। जो नास्तिक ईश्वराज्ञा का पालन करता हुआ भी ईश्वर को नहीं मानता, उसे ईश्वर अपने नियमानुसार कर्म फल तो देता है। परन्तु जो ईश्वर को मानने का समाधि व मोक्ष में आनन्दरूप फल है, वह उसे नहीं मिलता।

वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वाध्याय व आप्त पुरुषों के सत्संग से ईश्वर ज्ञान तो सम्भव है परन्तु ईश्वरकृपा बिना ईश्वर का आनन्द सम्भव नहीं।

ईश कृपा - जो-जो जितना-जितना संसार का उपकार करता है उतनी-उतनी ईश्वर उस पर कृपा करता है, न कि स्वेच्छा से अनायास ही जिस किसी पर व चाहे जितनी मात्रा में। ईश्वर दया सब पर करता है (समानरूप से) और न्याय भी सब का करता है (अपने-अपने कर्मानुसार)

किसी के मानने न मानने से सत्य (तत्त्व) ईश्वर का कभी कुछ नहीं बिगड़ता। जो मानेगा वह लाभान्वित होगा जो न मानेगा वह हानि उठायेगा।

ईश्वर के प्रति श्रद्धा कैसे हो ?

इसके लिए निम्नलिखित बातों को जाने, विचारें व समझें। कि –

१. ईश्वर हमारे जीवन और संसार का आधार है।
२. वेदज्ञान का दाता और अन्तःकरण में प्रेरणा करता है।
३. हमें सुख देने वाले जड़–चेतन सभी पदार्थों का आदि मूल परमेश्वर है।
४. ईश्वर हमारे कर्मों का फल दाता है।
५. ईश्वर हमारा सर्वाधिक हितैषी है।
६. पूर्ण स्थायी सुख ईश्वर से ही मिलता है।
७. ईश्वर सर्वगुण सम्पन्न है जबकि जीव और प्रकृति में अनेक दोष हैं।
८. ईश्वर हमें इतना अधिक सुख देता है और बदले में कुछ भी नहीं लेता।
९. ईश्वर हमारा कभी साथ नहीं छोड़ता।
१०. ईश्वर की उपासना से व्यक्ति पाप कर्म और दुःखों से बचता है।

ईश्वरीय सुख की विशेषतायें

१. इसकी प्राप्ति में बाह्य साधनों की अपेक्षा कम रहती है।
२. यह सर्वत्र प्राप्य है।
३. यह नित्य है।
४. यह विशुद्ध है, चार प्रकार के दुःखों से रहित है।
५. इसे चुराया नहीं जा सकता, छीना नहीं जा सकता।
६. इसकी प्राप्ति के लिये पाप नहीं करना पड़ता।
७. इससे व्यक्ति मन–इन्द्रियों का स्वामी बनता है।
८. इससे स्वयं सुखी होकर दूसरों को भी आनन्दित करता है।
९. यह कुसंस्कारों का नाशक होता है।
१०. इससे व्यक्ति स्वस्थ, शान्त, प्रसन्न और संतुष्ट रहता है।
११. इससे व्यक्ति निष्काम कर्त्ता बनता है
१२. ईश्वरीय सुख से व्यक्ति ऊबता नहीं है।
१३. इसको भोगने वाला कालान्तर में मुक्ति को प्राप्त करता है।

सत्य की परिभाषा और फल

(१) जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना, मानना सत्य कहाता है।
(२) वह सत्य नहीं (होता) कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य का प्रकाश किया जाये।
(३) जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिये वह सत्यमत को प्राप्त नहीं हो सकता।
(४) मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।
(५) जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो वह सत्य है। सत्यासत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं।
(६) सदा सत्य की विजय और असत्य की पराजय होती है।

सत्य किस प्रकार बोलें

(१) परीक्षा करके, सब के उपकार के लिये बोलें।
(२) सर्वहितकारी और प्रिय वाणी बोलें।
(३) आवश्यकता से कम या अधिक न बोलें।
(४) व्याकरण के अनुसार शुद्ध बोलें।
(५) अपात्र या अयोग्य स्थान पर न बोलें।

झूठ बोलने की अपेक्षा न बोलना ठीक। बोला तो जाये पर सत्य बोला जाये। सत्य को भी प्रिय करके बोला जाये। सत्य और प्रिय वचन धर्मानुसार हो।

सत्य का फल : सत्याचरण करने वाले का विश्वास उसके शत्रु भी करते हैं। झूठे का विश्वास उसकी पत्नी भी नहीं करती। प्रारम्भ में जब आर्यसमाजी सत्य का पालन किया करते थे तब कोर्ट का न्यायाधीश, जो कुछ आर्य कहता उसे सत्य (प्रमाण) मानकर न्याय (निर्णय) कर देता था।

बालक हमेशा आचरण का अनुकरण करता है, उपदेश का नहीं । बच्चा अपने माता-पिता का दर्पण होता है । उसका प्रभाव जाति, राष्ट्र और संसार पर पड़ता है । दोषयुक्त के लिए सत्य प्रथम कड़वा परन्तु परिणाम में अमृत होता है ।

संशय महाशत्रु

योगाभ्यास हो चाहे सांसारिक कार्य, संशय सबसे बड़ा शत्रु (विघ्न) है । इससे व्यक्ति कार्य करने में शिथिल पड़ जाता है । इससे रुचि, उत्साह मंद पड़ जाते हैं । किसी वस्तुतत्त्व को यथार्थ में परीक्षा पूर्वक जानना हो तो संशय सहायक है, परन्तु जानकर भी यह सन्देह बना रहे तो उस वस्तु को न तो प्राप्त करने की और न ही छोड़ने की स्थिति बनती है । **'संशयात्मा विनष्यति'** । (गीता)

संशय उत्पत्ति के कारण

(१) समान धर्मोत्पत्ति - जब दो वस्तुओं के समान धर्मों की उपलब्धि तो हो रही हो परन्तु विशेष धर्मों की जानकारी न हो, जैसे चाँदनी रात में ठूँठ व मनुष्य की लम्बाई-चौड़ाई तो दीख रहे हैं, परन्तु विशेष धर्म हाथ-पग चलते दीखें नहीं, डाली-शाखा हिलती दिखाई न दे तो वहाँ व्यक्ति सन्देह में पड़ जाता है कि यह वृक्ष है या मनुष्य ।

(२) अनेक धर्मोत्पत्ति - द्रव्यों में कई गुण होते हैं । कुछ गुण अन्य द्रव्यों के समान भी होते हैं, परन्तु अपने-अपने विशेष गुणों के कारण वे द्रव्य अन्य द्रव्यों से पृथक् जाने जाते हैं । इन सब की अपनी-अपनी विशेषतायें होती हैं । 'गंध' पृथिवी महाभूत का गुण है । यह 'गंध गुण' पृथिवी महाभूत के सजातीय जल-अग्नि-वायु महाभूत में नहीं पाया जाता है तथा पृथिवी महाभूत के विजातीय गुण व कर्म में भी नहीं पाया जाता । तो संशय होता है कि 'गंध गुण' द्रव्य का है या गुण का या कर्म का ।

(३) विपरीत धर्मोत्पत्ति - किसी एक विषय में विपरीत बात सुनना जैसे एक कहता है ईश्वर है, दूसरा कहता है नहीं है ।

(४) उपलब्धि की अव्यवस्था - जैसे दोपहर कड़ी धूप में कहीं रेगिस्तान में चलते हुए दूर जल तरंगें दीख रही हैं तो संशय होता है कि वास्तव में आगे तालाब में जल है या मृग मरीचिका । नेत्रों द्वारा वस्तु की उपलब्धि होते हुए भी अव्यवस्था के कारण संशय बना रहता है ।

(५) अनुपलब्धि की अव्यवस्था - वस्तु होते हुए नहीं मिल रही या है ही नहीं इसलिये नहीं मिल रही । जैसे सुने हुए किसी पुराने खजाने में गड़ा हुआ धन का घड़ा सही ठिकाना न पाने के कारण नहीं मिल रहा या वहाँ घड़ा न होने के कारण नहीं मिल रहा ।

ईश्वरीय ज्ञान-वेद

वैदिक धर्म के समान विश्व के सभी आस्तिक मत जैसे इस्लाम, पारसी, ईसाई आदि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को मानते हैं; और साथ-साथ सभी अपने-अपने धर्म ग्रन्थों के ईश्वरीय ग्रन्थ होने का दावा भी करते हैं; परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इन पुस्तकों को तर्क और प्रमाण की कसौटी पर परखा जाना चाहिये, जिससे सच्चाई का पता लग सके ।

ईश्वरीय ग्रंथ की कसौटी

यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो किसी भी ईश्वरीय ग्रंथ में निम्न गुण व लक्षण होने चाहिये -

१. ग्रंथ का आविर्भाव मानव सृष्टि के आरम्भ में होना चाहिये ।
२. ऐसी पुस्तक में मानवीय इतिहास नहीं होना चाहिये ।
३. उसका ज्ञान सृष्टि विज्ञान के सत्य सनातन नियमों के अनुकूल व प्रकृति के गुणों तथा रहस्यों को खोलने वाला होना चाहिये ।
४. उसका ज्ञान तर्क संगत, विवेक पूर्ण, वैज्ञानिक एवं विरोधाभास से मुक्त हो ।
५. उसका ज्ञान आस्तिकों की दृष्टि से ईश्वर-जीव-प्रकृति के मूल गुणों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या करने वाला हो ।
६. वह पुस्तक समस्त भौतिक व मानवीय ज्ञान विज्ञान की आदि स्रोत हो ।
७. उसका ज्ञान सार्वदेशिक, सार्वभौमिक, समतावादी, निष्पक्ष एवं प्राणी मात्र के लिये समान हितकारी हो ।
८. वह विश्वभर के मानवों के लिये समान हो । उसमें जाति, नस्ल, रंग, देश, भाषा और लिंग के आधार पर भेद न हो ।
९. वह पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, गरीब-अमीर, गोरा-काला सभी प्रकार के भेद-भावों से मुक्त हो ।
१०. उसमें वर्ग द्वेष, जाति द्वेष, संकीर्णता एवं पाखण्ड नहीं होना चाहिये ।

धर्म ग्रंथों की परीक्षा

विचारणीय यह है कि वेद, कुरान, बाईबल, जिन्दावस्ता में से कौन सा ग्रन्थ उपरोक्त ग्रन्थ उपरोक्त कसौटियों पर खरा उतरता है। यह सब जानते हैं कि :-

पारसियों का जिन्दवस्ताँ लगभग साढ़े तीन हजार (३५००) वर्ष, ईसाईयों की बाईबल लगभग दो हजार वर्ष और मुसलमानों की कुरान लगभग पन्द्रह सौ (१५००) वर्ष पुरानी है। जब कि वैज्ञानिकों के परीक्षणों के अनुसार मानव सृष्टि लाखों वर्ष पुरानी है। फिर यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य साढ़े तीन हजार वर्ष पहले किन आचार संहिताओं का पालन करता होगा।

इन तीनों में उनके रचने के समय का मानव इतिहास है। मोहम्मद साहब व जीसस क्राईस्ट ने तो स्पष्ट रूप से अपने चमत्कारों एवं अपने मत के विरोधियों के प्रति कटु व्यवहार का वर्णन किया है। अत: ये पुस्तकें सृष्टि के आदि समय की नहीं हैं।

(३) से (६) इन में प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध अनेक वर्णन हैं। ये पुस्तकें वैज्ञानिक तर्क व प्रमाण की कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

(७) से (१०) इनमें वर्ग द्वेष की प्रेरणा कूट-कूट कर भरी है। भला ईश्वर अपने पुत्रों में द्वेष फैलाने की आज्ञा कैसे देगा?

तदप्रामाण्यमनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ (न्याय २-१-५८)

अर्थात् जिस पुस्तक में ये तीन दोष हों वह प्रमाण करने योग्य नहीं हो सकती। जिसमें -

१. मिथ्या बातों का उल्लेख हो।

२. परस्पर विरोधी बातें लिखी हों।

३. पुनरुक्त असंबद्ध बातों का समावेश हो। वह पुस्तक प्रामाणिक नहीं हो सकती।

वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों ?

क्योंकि उपरोक्त सभी कसौटियाँ वेद के विषय में सही उतरती हैं। "**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**" (वै.६-१-१) वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है।

सभी निष्पक्ष विद्वान् मानते हैं कि वेद विश्व की प्राचीनतम पुस्तक है। सभी धर्मों ने मानवतावादी नैतिक मूल्य इन्हीं वेदों से लिये हैं।

इनमें मानव इतिहास नहीं जैसे रामायण, महाभारत, कुरान, बाईबल आदि में है। वेद में वर्तमान विज्ञान के मूल स्रोत हैं। गणित का स्रोत वेद है यह विदेशी भी मानते हैं।

वेदों की शिक्षा सार्वदेशिक, सार्वकालिक, मानवतावादी, प्रेरणादायक, तथा वर्ग-जाति भेद, राग-द्वेष अन्यायादि से मुक्त मानव मात्र के लिये एक समान कल्याणकारी है।

वेद विश्वबन्धुत्व व एक विश्वराज्य व्यवस्था का हामी है। सब प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इसे ईश्वरीय ज्ञान माना है। और अनेक विदेशी विद्वान् जैसे रेव. मोरिश, फिलिप, मोक्समूलर, जेकोब मेट्रो, मदाम ब्लाव-स्टिकी आदि भी इसे ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं।

वैदिक दर्शन और आधुनिक विज्ञान

आज का विज्ञान स्वीकार करता है कि -

(१) इस संसार का मूल तत्त्व ऊर्जा है जो कि जड़ है।

(२) मूल्य तत्त्वों की विशेषताओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता यदि परिवर्तन हो जाये तो उन्हे मूल तत्त्व नहीं माना जा सकेगा।

(३) भौतिक विज्ञान केवल उन्हीं तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करता है जिन्हें आंखों से या यन्त्रों से देखा जा सके अथवा बुद्धि से स्वीकार किया जा सके।

(४) अभाव से भाव नहीं हो सकता इत्यादि।

अब सत्य की खोज के उद्देश्य से भौतिक वैज्ञानिकों के समक्ष कुछ प्रश्न उपस्थित किये जाते हैं।

प्रश्न-(१) भौतिक विज्ञान उन तत्त्वों को भी स्वीकार करता है जो बुद्धि से जाने जाते हैं, भले ही आँखों या यन्त्रों से नहीं देखे जा सकते हों जैसे कि ऊर्जा, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति आदि। 'क्वार्क्स'[१] नामक सूक्ष्म द्रव्य भी अभी तक किन्हीं भी यन्त्रों के (माध्यम) से देखे नहीं जा सके। फिर भी विज्ञान इनकी सत्ता को स्वीकार करता है। इसी प्रकार पत्थर आदि भारी पदार्थ पृथ्वी की ओर

---

१. प्राप्त सूचना के अनुसार विज्ञान ने 'क्वार्क्स' भी देख लिया है।

आकर्षित होते हैं । इस आकर्षण रूपी कार्य के आधार पर पृथ्वी में 'गुरुत्वाकर्षण' के नाम से एक शक्ति की 'सत्ता' स्वीकार की गई ।

ठीक इसी प्रकार के हम आप सब सोचते विचारते हैं । अनेक प्रकार की विद्याओं को सीखकर विद्वान् हो जाते हैं । तो यहाँ प्रश्न होता है कि इन विद्याओं को सीखने वाला द्रव्य कौन सा है ? भौतिक विज्ञान के अनुसार तो मूल तत्त्व ज्ञान से रहित हैं । और मूल तत्त्वों की विशेषताओं में परिवर्तन भी नहीं हो सकता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जड़ (ज्ञान रहित) मूल तत्त्व से विद्याओं को सीखने वाले चेतन(ज्ञान सहित) द्रव्य की उत्पत्ति हो गई । जब हमें विद्याओं को सीखने वाला, सोचने-समझने वाला तत्त्व व्यवहार में मनुष्य आदि के रूप में उपलब्ध है, तो एक चेतन (ज्ञानवाला) तत्त्व भी हमें मूल तत्त्व के रूप में अवश्य ही स्वीकार करना होगा । जो कि विचार पूर्वक कार्य करता है; मोटर, रेल, घर आदि बनाता है और अपने अनेक प्रयोजन सिद्ध करता है । ऊर्जा नामक मूल तत्त्व में ऐसी क्षमता सिद्ध नहीं होती और न ही वैज्ञानिक ऊर्जा में ऐसी क्षमता मानने को तैयार हैं । हम इस ऊर्जा से भिन्न चेतन मूल तत्त्व को 'आत्मा' कहते हैं ।

(२) इसी प्रकार से ब्रह्माण्ड में हम देखते हैं तो सभी जगह (परमाणु सौरमंडल आदि में) हमें व्यवस्था दिखाई देती है । ब्रह्माण्ड का मूल तत्त्व ऊर्जा तो जड़ (ज्ञान से रहित) है । वह तो ऐसी व्यवस्था और नियम बना नहीं सकता । इन नियमों और व्यवस्थाओं (व्यवस्थित रचनाओं) के लिये किसी बुद्धिमान् (ज्ञानवान्) तत्त्व को स्वीकार करना ही होगा, जो ऊर्जा, क्वार्क्स और इलेक्ट्रोन आदि द्रव्यों को परमाणुओं तथा रासायनिक द्रव्यों (= हीलियम, आक्सीजन, हाइड्रोजन आदि) के रूप में व्यवस्थित कर सके । यदि इस कार्य के लिये हम यह सोचें कि मनुष्य के रूप में उपलब्ध ज्ञानवान् पदार्थ 'आत्मा' ने यह व्यवस्था बनाई होगी, तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि किसी भी मनुष्य का ऐसा सामर्थ्य नहीं दीखता, जो अरबों आकाश गंगाओं तक फैले विशाल ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कर सके । परिणाम स्वरूप हमें एक ऐसे अन्य चेतन (ज्ञानवान्) मूल तत्त्व की सत्ता माननी होगी जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना और व्यवस्था कर सके । ऐसे शक्तिशाली मूल तत्व को हम 'ईश्वर' कहते हैं । इसकी सत्ता को स्वीकार किये बिना सृष्टि की रचना का प्रश्न सुलझ नहीं पायेगा ।

कोई भी जड़ वस्तु ज्ञानपूर्वक स्वयं गतिशील होकर किसी कार्य पदार्थ के रूप में उपस्थित नहीं हो जाती । जैसे कि वृक्ष से लकड़ी के टुकड़े स्वयं कटकर और बुद्धि पूर्वक जुड़कर मेज कुर्सी के रूप में नहीं आ जाते । उन्हें मेज कुर्सी के रूप में लाने के लिये चेतन कर्त्ता (बढ़ई) की आवश्यकता होती है । ठीक इसी प्रकार से इस ब्रह्माण्ड के मूल तत्त्व ऊर्जा और क्वार्क्स आदि ज्ञान शून्य होने से स्वयं बुद्धि पूर्वक मिलकर इलेक्ट्रोन, प्रोटोन आदि के रूप में उपस्थित नहीं हो सकते । उनको इस स्थिति में लाने के लिये भी बढ़ई के समान एक ज्ञानवान् तत्त्व की आवश्यकता होगी । और वह भी एक मूल तत्त्व होगा । क्योंकि उसकी विशेषतायें ऊर्जा और आत्मा से भिन्न हैं ।

उसी मूल तत्त्व को हम ईश्वर कहते हैं । यदि ईश्वर की सत्ता को न माना जाये तो हमारा प्रश्न है कि- ऊर्जा से क्वार्क्स तथा इलेक्ट्रोन, प्रोटोन आदि पदार्थ किसने बनाये ? जब कि सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि सृष्टि की रचना बुद्धिपूर्वक है और ऊर्जा आदि मूल तत्त्व बुद्धि से शून्य (ज्ञान रहित) हैं ।

विश्व की समस्याओं का समाधान

विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिये हमें विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वों का अध्ययन करना ही होगा । विश्व के सम्पूर्ण तत्त्व उपर्युक्त विवेचन के अनुसार 'तीन' ही सिद्ध होते हैं । इन तीनों का विस्तृत विवरण वेद और वैदिक साहित्य (भारतीय वैदिक दर्शन एवं उपनिषदादि) में उपलब्ध होता है । इन सभी में इन तीन तत्त्वों के नाम हैं - ईश्वर, जीव और प्रकृति ।

वैज्ञानिक लोग भौतिक - विज्ञान में केवल 'प्रकृति' नामक एक ही मूल तत्त्व का अध्ययन करते हैं परन्तु शेष दो तत्त्वों की उपेक्षा कर देते हैं । ऐसी स्थिति में हम यह समझते हैं कि जीवन की सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो पायेगा ।

मनुष्यों की स्वाभाविक इच्छा है कि हम दु:खों से पूर्णतया छूटकर स्थायी और पूर्ण सुख की प्राप्ति कर सकें । इसकी पूर्ति के लिये हमें ''ईश्वर और आत्मा'' के बारे में भी अवश्य ही जानना होगा । क्या भौतिक वैज्ञानिक इन दो तत्त्वों के सम्बन्ध में जानने के लिये भारतीय वैदिक साहित्य का अध्ययन करेंगे ? और क्या संसार के अन्य लोगों को भी वैदिक साहित्य अध्ययन करने का परामर्श देंगे ? ऐसा करने से मानवता का बहुत बड़ा उपकार होगा ।

ब्रह्म विद्या तथा भौतिक विज्ञान

अनादि प्रश्न तीन हैं - (१) मैं क्या हूँ ? (२) यह संसार क्या है ? (३) इसका कर्त्ता संचालक ईश्वर क्या है ?

ध्यान देकर विचारिये कि हम कौन हैं ? क्या हैं ? हमारा प्रयोजन - उद्देश्य क्या है ? उस उद्देश्य को पूरा करने का साधन क्या है ? हमें मनुष्य शरीर देने वाला इस समस्त विश्व का बनाने वाला, संचालक, व्यवस्थापक कौन है, कैसा है, व क्या चाहता है ?

भौतिक विज्ञान से जीवन की सुविधायें तो मिली पर विशुद्ध सुख नहीं मिला । इस क्षेत्र में लाखों लोग पूरा जोर लगा रहे हैं, परन्तु यह ब्रह्मविद्या, समाधि का विज्ञान उनके पास नहीं होने से वे असफल हो रहे हैं । ब्रह्मविद्या काल्पनिक नहीं । दर्शनों में यों ही मान नहीं रखी है । यह असाधारण विद्या है । ऋषियों की अनुभव की हुई है । पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा से ग्रस्त सामान्य मनुष्य और वैज्ञानिकों को यह अप्राप्य है ।

वैज्ञानिक कहते हैं कि हम सत्य की खोज करते हैं । व्यक्ति या तो लौकिक सुख या आध्यात्मिक सुख दो में से किसी एक को चाहता है । वैज्ञानिक आध्यात्मिक सुख को जानते नहीं हैं । तब अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि वे तीन एषणाओं को चाहते हुए-लौकिक सुख को चाहने के लिए ही सत्य की खोज को अपना लक्ष्य बनाते हैं । इन एषणाओं की तृप्ति ही उनका लक्ष्य है । आज भौतिक विज्ञान उग्र रूप में उभर आया है । योग विज्ञान लुप्त-प्रायः है । अतः परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले भूगोल में दो चार ही मिलें ऐसा संभव है । यदि बहुत बड़ा समुदाय कुछ गलत करने लग जाये तो लोग उसे ही ठीक मानने लग जाते हैं । आजकल नाड़ी बन्द करना, आठ दिन भूमि में दबना, मूर्छित होना (कुछ भी पता न लगना), आँख दबाने से प्रकाश दीखना, कान दबाने से शब्द ब्रह्म सुनना आदि को ही योग व योग की सिद्धि मान रहे हैं, पर यह सब योग नहीं है । इस 'गलत योग' को देख-सुन कर आधुनिक वैज्ञानिक 'योग' को सत्य विज्ञान स्वीकार नहीं कर रहे हैं ।

योगवाद व भोगवाद

इस आर्यावर्त्त देश में लाखों ऋषि हुए और वे सब वेद को ही प्रमुख ग्रन्थ मानते रहे । वेद के अन्दर ऐसे उपदेश (ज्ञान-विज्ञान) की बातें हैं जिनके माध्यम से मानव जीवन सफल हो जाता है ।

भौतिक विज्ञान का भी अपना महत्त्व है, परन्तु केवल भौतिक विज्ञान को लेकर चलने से और वैदिक विज्ञान को छोड़ देने से मानव जीवन सफल नहीं हो सकता । वेद ऐसा ग्रन्थ है जिससे व्यक्ति अपने चरम लक्ष्य (मुक्ति सुख) को प्राप्त कर लेता है । आज मानव ने भौतिक उन्नति खूब की पर परिणाम सामने है । जैसे-जैसे जरूरतें, धन-साधन बढ़ते गये, दुःख भी बढ़ते गये । इसके अन्दर जो दोष हैं उनको मानव ने नहीं जाना ।

केवल भौतिक उन्नति मानव जाति को आक्रान्त कर चुकी है, दबा चुकी है । हम समाधि से जान सकते हैं कि जो यह भौतिक विद्या से सुख है उससे अनेक गुणा अधिक सुख ईश्वर प्राप्ति में है ।

संप्रदायों के पास ईश्वर का सच्चा रूप नहीं होने से उन्होंने लोगों को ईश्वर अविश्वासी और योगवाद से विमुख कर दिया । कहते हैं कि इच्छानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करने से भी सफलता मिलती है । यह गलत मान्यता है कि कोई व्यक्ति सीधा और घूमकर ईश्वर के पास पहुँच जाता है । क्या आर्यवन रोजड़ में पहुँचने के लिये कोई उसे दिल्ली के पास, कोई बम्बई या चण्डीगढ़ के पास मान कर चले तो पहुँच सकता है ? ईश्वर को मानते हुए भी उसके रहने का ठिकाना अलग-अलग स्थानों पर कोई सातवें आसमान, कोई चौथे आसमान, कोई क्षीरसागर, कोई वैकुण्ठ कोई परमधाम आदि में मानते हैं । इस प्रकार ढूँढ़ने से क्या ईश्वर प्राप्त कर सकेंगे ? यदि ईश्वर का सही ठिकाना (सर्वव्यापकता का स्वरूप) नहीं जाना तो फिर सीधे चले या घूमकर, सभी उसे किस प्रकार पा सकेंगे ?

"ईशा वास्यमिदं सर्वम्" ईश्वर सब जगह विद्यमान है, यह जानकर चलने से मन को सैकड़ों जगह भेजते हैं तब भी वह ईश्वर सब जगह है यह जानकर मन ईश्वर में स्थिर हो जायेगा । यह है व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध का योगाभ्यास में उपयोग ।

आज नित्य आनन्द से दूर और क्षणिक सुख के लिये बेचारे सब जुटे हुए हैं । केवल लौकिक भोगों को भोगना ही चरम लक्ष्य बन गया है । सृष्टि के आदि से किसी भी वैदिक ऋषि ने इस लौकिक सुख को चरम लक्ष्य नहीं माना परन्तु ईश्वरीय आनन्द को प्राप्त करना ही मुख्य लक्ष्य बताया है ।

केवल भोगवाद अथवा भौतिकवाद आज अध्यात्मवाद पर हावी हो गया है । इससे टकराना इसको हटाना अत्यन्त कठिन हो गया है । उनकी

मान्यता है कि न कोई आत्मा नाम की न कोई परमात्मा नाम की चीज है। केवल यह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि विकास को प्राप्त कर (होकर) प्राणी आदि चेतन बन गये, क्या लाखों-करोड़ों जड़ वस्तु मिलकर भी चेतन वस्तु बन सकती हैं ? और क्या जो आत्माएँ हैं वे मिलकर भी प्रकृति का एक अणु बन सकती हैं ?

विशुद्ध मानव जीवन, सफल मानव जीवन, योग से निर्मित होता है। यह मानव शरीर जिसमें हम रहते हैं, योग के माध्यम से ऋषियों ने इसे समझा और अपने ग्रन्थों में लेखबद्ध कर दिया। आज मानव जाति अत्यन्त निम्न अवस्था में पहुँच गई है मनुष्य की परिभाषा इतनी अशुद्ध हो गई है कि बिगड़े हुए को अच्छा माना जाता है।

योग से भोगवाद की टक्कर है। एक उभर कर आयेगा तो दूसरा धाराशायी हो जाएगा। योगवादी मानता है कि भोग तो पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। इन दुःखदायी विषयों से मुक्ति के लिये ईश्वर-जीव-प्रकृति का सम्बन्ध जानकर योग द्वारा मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। भोगवादी का सिद्धान्त है कि आत्मा-परमात्मा, पाप-पुण्य, धर्मादि सब कल्पना मात्र हैं। जो ठीक लगे वह करें, न लगे वह न करें। जिन्हें बोलने का भान नहीं, बिना सिर पैर की बात बोलते हैं उन भोगवादियों का प्रभाव ईश्वरवादियों पर भी पड़ा है कि धन को ही सब से बड़ी चीज मानने लगे हैं।

जो लोग अज्ञान से और स्वार्थ से ओत-प्रोत हैं, अपने आत्मा के विरुद्ध कर्म करने वाले हैं, उनकी अवस्था इस जन्म में भी और अगले जन्मों में भी दुःखमय होती है। ''असुर्या नाम ते लोका अन्धेन'' वे लोग इस जन्म में और अगले जन्मों में भी असुर-पिशाच-पापी कहाते हैं जो अपने प्राणों के पोषण में लगे हुए हैं। जीवात्मा मनुष्य शरीर पाकर सोचता है कि मैं अपना ही भला करूँ परन्तु इसका उलटा होता है। जितना-जितना अपना भला व जितनी-जितनी दूसरे की उपेक्षा करता है उतना-उतना अधिक दुःखी होता है। यह दूसरों को हानि पहुँचा कर भी अपना भला चाहता है। आज प्रधानमंत्री स्तर का व्यक्ति भी रिश्वत लेता है। इसका कारण यह स्वार्थी भोगवादी प्रवृत्ति-संस्कृति है। यह ईश्वर आज्ञा का अनुकरण न कर धर्म विरुद्ध चलना है। ईश्वर के आदेश का पालन न करने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। आज बहुसंख्यक या तो झूठे भोगवाद के सिद्धान्त को मानने

लगे हैं या संशय में पड़े हैं। नीचे से ऊपर तक न्याय नाम की चीज नहीं मिलती।

यह विचार ठीक नहीं कि ये कार, विमान, नौकर-चाकर वाले सुखी हैं, और जिनके पास ये साधन नहीं है वे महादुःख घोर नरक भोग रहे हैं। सुख कपड़े-मकान-जूतों में नहीं है। सुख को मन से देखें। जो लोग आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध आचरण करते हैं वे आत्मा का हनन करने वाले महादुःख घोर नरक भोगते हैं। ये दुरात्मा भोगवादी-**मनस्यन्यत्, वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यत्** हैं। अध्यात्मवादी-**मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं** होते हैं।

हम स्वार्थों को ठोकर मारकर प्राणीमात्र का कल्याण करें।

ईश्वरवादियों पर भोगवाद का प्रभाव

आज तो ईश्वरवादी भी भोगवाद से बुरी तरह प्रभावित हैं। दुनियाँ रोचकता चाहती है, सत्याचरण नहीं, अतः आडम्बर-अंधकार में फँसती है। आज के अधिकांश ईश्वरवादी पूजा-स्थलों में भौतिक साधनों की चकाचौन्ध द्वारा लखलुट धन लगा भौतिक भव्यता का प्रदर्शन कर जन-मानस को आकर्षित व प्रभावित करने की तीव्र स्पर्धा में लगे हुए हैं। उन्होंने अपना सारा क्रिया-कलाप, वर्त्ताव लगभग भोगवादियों की तरह स्वीकार कर लिया है। ईंट पर ईंट, पत्थर पर पत्थर लगा-सजाकर प्रभु के गृह निर्माण की प्रतिस्पर्धा में जुटे हुए हैं। इन्होंने ''ईशा वास्यमिदं सर्वम्'' को भुला, मानव निर्माण के कार्य से बिलकुल विमुख होकर, मानव समाज को सर्वनाश की ज्वाला में झोंक दिया है। माता-पिता भौतिक विद्या पढ़ाने-लिखाने के लिये एड़ी से चोटी तक जोर लगाते हैं पर बालकों को आत्मा-परमात्मा-प्रकृति के बारे में, धर्म, परोपकार, सत्यभाषण आदि के बारे में कुछ भी नहीं बताते। सभी बच्चे डाक्टर, इन्जीनियर बनना चाहते हैं क्योंकि धन प्राप्त होगा। यह सब भी करें, पर साथ-साथ मानव निर्माण को भी अपनायें तो क्या हानि ? पैदा होना, भोग भोगना व रोगी होकर मरना ही लक्ष्य है ?

भोगवाद योगवाद को सूक्ष्मरूप से कैसे प्रभावित करता है इस बात को विशेष पढ़ा-लिखा भौतिकवादी भी नहीं पकड़ सकता। भौतिकवादी सोचता है कि इस संसार की सब वस्तुओं के स्वामी हम हैं। इसका प्रभाव

आध्यात्मिकों पर सूक्ष्मरूप से रहता है। भोगवादी ने नियम बनाये-गाय, घोड़े, पशु-पक्षी सब को खायें। यह मूल दोष कहाँ से आया ? ईश्वर को स्वामी न मानने से। मनुष्य सारे संसार का मालिक स्वयं बनना चाहता है। ये लड़ाई-झगड़े सब इसी से होते हैं। जो मालिक स्वयं बनता है क्या वह एक बाजरे के दाने या एक बाल को भी बना सकता है ? यह शरीर इन्द्रियाँ आदि उपकरण हटा दीजिये तो यह जीवात्मा, यह भी नहीं जान सकता कि मैं कहाँ पड़ा हूँ। धरती पर पड़ा जीवात्मा स्वयं की शक्ति से एक अंगुल भी नहीं सरक सकता। यदि अकेले जीवात्मा की शक्ति कुछ भी नहीं तो वह कहाँ इस संसार का मालिक बना बैठा है ? आस्तिक कहने को कहते हैं कि सब भगवान् का है। गलत रूप में ईश्वर को मानने वाले भी नास्तिक से कम नहीं । धन सब अपना मानते हैं और कहते हैं 'तेरा तुझ को अर्पण', धन चढ़वा कर सब को लूट रहे हैं। जीवात्मा इस शरीर इन इन्द्रियों आदि को ईश्वर प्रदत्त नहीं मानता यह 'भोगवाद' है। हम धनवान्, विद्वान्, बलवान्, चक्रवर्ती राजा भी बनें पर सब ईश्वर का, ईश्वर प्रदत्त मानकर भौतिकवादी न बनें तो क्या हानि है ?

व्यक्ति सदा अपने जीवन में ईश्वर की महत्ता अनुभव करता रहे, ताकि ईश्वर की सहायता सदा मिलती रहे। इस भोगवाद=केवल भौतिकवाद ने ईश्वरवाद को दबाकर रख दिया। भोगवादी ऐसा स्वार्थी कंजूस हो जाता है कि सारा खुद खाना भोगना चाहता है। उसकी मान्यता है कि भोग से उसकी सन्तुष्टि हो जायेगी। इनकी मान्यता है कि खाने-पीने से, विषयों के भोग से तृप्त हो जायेंगे। ये मायावादी घाटा न सह सकने पर बम्बई जैसे नगरों में कोई फाँसी लगाकर, कोई मकान से गिरकर आत्महत्या कर लेते हैं। ऋषियों की मान्यता से विरुद्ध रजनीश का जो कुछ सिद्धान्त था वह सब केवल भोग भोगने का था। भोगवादी के सामने कोई धर्म-कर्म आदि नहीं होता।

सारे विश्व की वस्तुएँ एक व्यक्ति को मिल जायें फिर भी तृप्ति नहीं होगी, फिर शेष पाँच अरब व्यक्तियों के भोग की सामग्री कैसे पूरी होगी ?

भोगवादी की बुद्धि पक्षपात की होगी। अध्यात्मवादी न्यायप्रिय होगा। भोगवादी कितना ही न्यायप्रिय हो पक्षपातरहित और परोपकारी न होकर

स्वार्थी होगा। ईश्वर के सानिध्य से योगवादी व्यक्ति अपना सर्वस्व देकर भी अन्य की भलाई चाहेगा।

मानव जीवन दो धाराओं में

मानव जीवन दो धाराओं में बहता चलता है या तो भोगवाद या योगवाद। मानव जाति भोगवाद में आकण्ठ डूब चुकी है। हजारों पतंगों की भाँति विषयाग्नि में जल रहे हैं।

योगवाद की परिभाषा वेद के अनुसार यह नहीं कि धनादि न कमाएँ, सुख समृद्धि न बढ़ायें, परन्तु यह है कि त्याग भाव से सब भूतात्माओं के कल्याणार्थ भी उपयोग में लायें। प्रकृति की उपासना में वैज्ञानिक आकण्ठ डूबे हैं और सामान्य संसारी जन नाच-गान, खान-पान, तमाशे में डूब रहे हैं। जीवात्मा या तो ईश्वर की या विकृति की उपासना सतत करता ही रहता है। वेद कहता है सम्भूति का प्रयोग करता हुआ अमृत को प्राप्त कर। धन कमाओ तो धर्म से कमाओ। येन केन प्रकारेण धन मिल जाये यह भोगवाद है।

"रोटी-कपड़ा और मकान, मांग रहा है हिन्दुस्थान" क्या मानव केवल पशु ही होकर रह गया है ? "पहले पेट पूजा फिर काम दूजा" ही नारा बनकर रह गया। कभी इस देश में महाराजा अश्वपति गौरव से उद्घोष करते थे कि मेरे राज्य में कोई कंजूस नहीं, अग्निहोत्र न करने वाला कोई नहीं, कोई पुरुष व्यभिचारी नहीं तो स्त्री की तो बात ही क्या ? यह था योगवाद का जमाना। आज सर्वथा इससे उलटा हो गया। यह भौतिकवादियों ने सब अव्यवस्था बना डाली। कार्ल मार्क्स का रूस धराशायी हुआ, अमेरीका भी जो केवल भौतिकवाद पर डटा हुआ चलेगा तो अध्यात्मवाद के बिना मानव जाति के सर्वनाश का कारण सिद्ध होगा। योगवाद धर्म-अर्थ-काम से लेकर मोक्ष तक की प्राप्ति का मार्ग है। पर भौतिकवाद में भोग ही सब कुछ है। धन कमाने में कोई नियम नहीं।

सम्प्रदायवादी, ईश्वर को गलत मानने वाले परस्पर रोज झगड़ते हैं। केवल चेतनावाद या केवल जड़वाद दोनों निष्फल हैं। जड़ चेतन दोनों के बिना व्यवहार नहीं चलेगा।

ईश्वर को न मानना हानिकारक है तो गलत मानना भी हानिकारक है। कुछ ने जड़ प्रकृति व चेतन आत्मा को तो माना, पर ईश्वर को बाहर निकाल

दिया जैसे जैन मतावलम्बी। कोई भी व्यक्ति सत्य वैदिक त्रैतवाद को माने बिना सफल नहीं होगा।

वर्तमान के दो विश्व युद्ध और प्राचीन महाभारत युद्ध भी भौतिकवाद का ही परिणाम था। मतभेद और स्वार्थ के रहते हम एक नहीं हो सकते। आज नीचे से ऊपर तक इक्का-दुक्का भी मुश्किल से मिलेगा जो देश को न चूस रहा हो, देश-भाषा-जाति भले नाश को प्राप्त हो जाये। ईश्वर की आज्ञा, नियम न मानने वाले भौतिकवादियों को चैन नहीं, वे महादुःखी हैं।

मानव निर्माण - योगविद्या से ही वास्तविक रूप में मानव निर्माण होता है। इसके बिना कोई भी व्यक्ति शुद्ध-पवित्र-न्यायकारी-पक्षपात रहित नहीं हो पाता। जितना भी भौतिक ज्ञान-विज्ञान व उपभोग साधन-सामग्री बढ़ी हो, फिर भी समाज में सुख शांति नहीं आई है। इसका कारण शिक्षा प्रणाली में दोष है। ज्ञान-कर्म-उपासना का शुद्ध और अशुद्ध होना क्रमशः मानव निर्माण और विनाश का कारण होता है। आज के पढ़े-लिखे शिक्षित अपने को महान् समझते हैं और विद्वान् ऋषियों को कुछ नहीं जानते-मानते। विदेशियों के लिखे इतिहास-चरित्र पढ़ाये सिखाये जाते हैं, जो ऋषियों के आचरण को धराशायी कर रहे हैं। भौतिकवादी सब भेड़चाल से नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। यद्यपि विनाश आत्मा का नहीं हो रहा है किन्तु विनाश नाम है महाक्लेश का जिसमें मानव समाज डूबता जा रहा है। जहाँ धार्मिक विद्वान् चिकित्सक प्राणों का दाता होता है वहीं अधार्मिक चिकित्सक धन-प्राणों का हरने वाला बन जाता है। शरीर के साथ जिसकी आत्मा-मन व इन्द्रियाँ भी प्रसन्न हो वह स्वस्थ और जिसका मिथ्या आचरण हो, आत्मा व मन अशुद्ध हों वह अस्वस्थ है। आधुनिक विद्या के साथ-साथ आत्मा-ईश्वर-धर्म को जोड़ो तो सफलता मिलेगी अन्यथा नहीं।

मानव जीवन के मुख्य प्रयोजन की सिद्धि योगवाद से है न कि भोगवाद से। वेदानुसार मानव जीवन का मुख्य प्रयोजन है दुःख व दुःख के कारण से छूटना और सुख व सुख के कारण (उपाय) उपलब्ध करना। इन चारों का नाम प्रयोजन है। जिस कार्य को सामने रख के उसमें प्रवृत्त होता है वह मानव जीवन का लक्ष्य-प्रयोजन होता है।

दुःख व दुःख के कारण और सुख व सुख के कारण। लाखों वैज्ञानिक गवेषणा कर रहे हैं उससे लगता है कि विश्व की बहुत बड़ी उन्नति हो रही है, परन्तु वास्तविक रूप में विश्व का भयंकर पतन हो रहा है। आज मानव अत्यन्त भयभीत है, अशान्त है। निर्दोष व्यक्तियों को लोग राख बना कर रख देते हैं। कोई पूछने वाला नहीं। जिस काम के करने से सुख नहीं मिल रहा और दुःख नहीं हट रहा तो यह उन्नति नहीं पतन है। यह भोगवाद का परिणाम है।

भोगवादी सोचते हैं जितनी धन सम्पत्ति अधिक होगी उतना अधिक सुख होगा, परन्तु भोग मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है, क्योंकि भोग भोगने से सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति नहीं होती। योग द्वारा ईश्वर प्राप्ति को जाने माने बिना व्यक्ति के दुःख और दुःख के कारणों की निवृत्ति नहीं हो सकती।

सुख गुण दो द्रव्यों का है। सुख गुण ईश्वर का है। प्रकृति का भी गुण सुख है पर दोनों सुखों में अन्तर है। प्रकृति का 'सुख-दुःख मिश्रित' है और क्षणिक होता है। प्रकृति के सुख में चार प्रकार का दुःख है - परिणाम, ताप, संस्कार और गुण-वृत्ति-विरोध दुःख। जबकि ईश्वर के आनन्द में ये चार दुःख, उत्पत्ति-विनाश, ह्रास-वृद्धि कभी नहीं होते।

ऋषियों का संदेश

(१) विषयों को भोगकर, इन्द्रियों की तृष्णा को समाप्त करने वाला तुम्हारा विचार ऐसा ही है, जैसा कि आग को बुझाने के लिये, उसमें घी डालना।

(२) यह मानना तुम्हारा सबसे बड़ा अज्ञान है कि "मैं कभी मरूँगा नहीं", "यह शरीर बहुत पवित्र है"। "विषय भोगों में पूर्ण और स्थायी सुख है"। तथा "यह देह ही आत्मा है"।

(३) तुम्हारे मन में अच्छे या बुरे विचार अपने आप नहीं आते। इन विचारों को तुम अपनी इच्छा से ही उत्पन्न करते हो, क्योंकि मन तो यन्त्र के समान जड़ वस्तु है, उसका चालक आत्मा है।

(४) किसी के अच्छे वा बुरे कर्म का फल तत्काल प्राप्त होता न देखकर तुम यह मत विचारो कि इन कर्मों का फल आगे नहीं मिलेगा। कर्म-फल से कोई भी बच नहीं सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा न्यायकारी है।

(५) संसार (= प्रकृति), संसार को भोगने वाला (= जीव) तथा संसार को बनाने वाले (= ईश्वर) के वास्तविक स्वरूप को जानकर ही तुम्हारे समस्त दु:ख, भय, चिन्तायें समाप्त हो सकती हैं और कोई उपाय नहीं है ।

(६) 'मनुष्य जीवन ईश्वर प्राप्ति के लिये मिला है' । इस मुख्य लक्ष्य को छोड़कर अन्य किसी भी कार्य को प्राथमिकता मत दो, नहीं तो तुम्हारा जीवन चन्दन के वन को कोयला बनाकर नष्ट करने के समान ही है ।

(७) तुम्हारे जीवन की सफलता तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि अविद्या के कुसंस्कारों को नष्ट करने में ही है । यही समस्त दु:खों से छूटने का श्रेष्ठ उपाय है ।

(८) जब तक तुम संसार के सुखों के पीछे छिपे हुए दु:खों को समझ नहीं लोगे, तब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा । बिना वैराग्य के चञ्चल मन एकाग्र नहीं होगा, एकाग्रता के बिना समाधि नहीं लगेगी, समाधि के बिना ईश्वर का दर्शन नहीं होगा, बिना ईश्वर-दर्शन के अज्ञान का नाश नहीं होगा और अज्ञान का नाश हुए बिना दु:खों की समाप्ति और पूर्ण तथा स्थायी सुख (=मुक्ति) की प्राप्ति नहीं होगी ।

(९) तुम इस सत्य को समझ लो कि 'अज्ञानी मनुष्य ही जड़ वस्तुओं (=भूमि, सोना, चाँदी आदि) तथा चेतन वस्तुओं (= पति, पत्नी, पुत्र, मित्र आदि) को अपनी आत्मा का एक भाग मानकर, इनकी वृद्धि होने पर प्रसन्न तथा हानि होने पर दु:खी होता है' ।

(१०) तुम्हारे लोहे रूपी मन को, विषय भोगरूपी चुम्बक सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं । ज्ञानी मनुष्य विषय भोगों से होने वाली हानियों का अनुमान लगाकर इनमें आसक्त नहीं होते, किन्तु अज्ञानी मनुष्य इनमें फँस कर नष्ट हो जाते हैं ।

(११) महान् ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुणों का भण्डार, ईश्वर एक चेतन वस्तु है, जो अनादि काल से तुम्हारे साथ है, न कभी वह अलग हुआ, न कभी अलग होगा । उसी संसार के बनाने वाले, पालन करने वाले, सबके रक्षक, निराकार की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना तुम सब मनुष्यों को सदा करनी चाहिए ।

द्वितीय भाग-उपदेशामृत

प्रमाण से परीक्षण

योग का सम्बन्ध प्रमाणों के परीक्षण द्वारा स्थापित होता है । जो प्रमाण की कसौटी पर कसकर सत्य को नहीं जानते वे योग विद्या नहीं सीख सकते । अंध परम्परा में ध्यान-योग के नाम से, बिना सोचे समझे, बिना प्रमाणों के कुछ बातों का चलन हो गया । उसमें वेद, दर्शन, संवाद आदि द्वारा सत्यासत्य निर्णय किये बिना ही बातों को मान लेते हैं । पर वह सत्य परंपरा नहीं, बल्कि प्रमाणों से जो सत्य ठहरे उसे मानना चाहिए ।

प्रमाण से ईश्वर-आत्मा की सिद्धि होती है, इसलिये वे हैं; न कि मैं मानता हूँ इसलिये हैं ? सामान्य व्यक्ति अपनी बुद्धि की प्रधानता मानकर चलते हैं । कई अड़ जाते हैं कि मेरा तो ऐसा प्रत्यक्ष है । मेरा अनुभव है ! मेरा अनुभव है ! कह-कह कर बात को टालते रहते हैं । अनुभव गलत भी हो सकता है । भ्रम हो सकता है । अत: जो प्रमाणों से सिद्ध हो वह सत्य, न कि मैं मानता हूँ इसलिये सत्य । वह बात सीधी या उलटी, गलत या ठीक भी हो सकती है । हाँ, कसौटी पर कसने पर यदि ठीक होगी तो वह ठीक मानी जायेगी ।

प्रत्यक्ष प्रमाण

''**इन्द्रियार्थसन्निकर्ष.......**'' । (न्याय दर्शन ।) इन्द्रियों का विषयों के साथ मेल होने से उत्पन्न ज्ञान । (जो पाँच प्रकार का होता है) एक तो अव्यपदेश्यम् = वाणी से कहा गया न हो, अर्थात् जो ज्ञान दूसरे के द्वारा शब्द के माध्यम से होता है वह प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता । दूसरा अव्यभिचारी = सत्यज्ञान अर्थात् तीन काल में भी परीक्षा से झूठ न हो ।

तीसरा व्यवसायात्मक = निश्चयात्मक हो, संशय रहित हो, तभी प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है ।

प्रत्यक्ष तो केवल वर्तमान काल को ही बताता है । अनुमान प्रमाण - तीनों काल की वस्तु को बताता है । केवल प्रत्यक्ष मानने से कुछ भी नहीं बनता-बनाता ।

अनुमान प्रमाण का प्रयोग पञ्चावयव से

(१) प्रतिज्ञा - शरीर अनित्य है।
(२) हेतु - क्योंकि उत्पन्न होता है।
(३) उदाहरण - जो उत्पन्न होता है वह नाशवान् देखा जाता है, जैसे घड़ा व कपड़ा।
(४) उपनय - जैसे घड़ा और कपड़ा वैसे शरीर ज्यों का त्यों।
(५) निगमन - उत्पन्न होने के कारण शरीर अनित्य है।

नास्तिक गलत हेतु देकर ईश्वर को नहीं मानते। कहते हैं - मिलावट करने वाले, झूठ बोलने वाले मौज करते हैं, यदि ईश्वर है तो क्यों नहीं रोकता ? अतः है ही नहीं। इसका समाधान यह है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। उसे ईश्वर की ओर से चेतावनी मिलती है पर ईश्वर साक्षात् कर्म करने से रोकता नहीं, उसे कर्मों का फल देता है।

शब्द प्रमाण

वेद जो ईश्वरकृत् माने जाते हैं और ऋषि ब्रह्मा, गौतम, कणाद, कपिल से लेकर दयानन्द तक आप्त पुरुषों के जो वचन हुए वे शब्द प्रमाण की कोटि में आते हैं। कोई भी विद्वान् कोई बात कहे तो उसे शब्द प्रमाण से मिलाकर निर्णय करें। जैसे ब्रह्माकुमारी का ईश्वर को परमधाम में मानना शब्द प्रमाण के विरुद्ध जाता है तो नहीं मानना चाहिए। ईश्वर है या नहीं जब सन्देह होता हो तो शब्द प्रमाण लाकर निर्णय करें। यदि शंका हो कि अपने मन की बात मानें या शब्द प्रमाण की ? सो अपनी बात को ठुकरा दें और शब्द प्रमाण को अपना लें। अपनी बात का स्वयं विरोध करना पड़ता है।

एक व्यक्ति चार आने की चोरी करता है, जब सात्त्विक ज्ञान उभरता है वही लाख रुपये पाने पर जमा करा देता है। ज्ञान का स्तर उतरता चढ़ता रहता है। अतः अपने अनुभव-प्रमाण का आग्रह छोड़ शब्द (वेद) प्रमाण को ही स्वीकार करें। अज्ञानी व्यक्ति भयभीत, कट्टर, हठी, दुराग्रही आक्रामक होता है। ज्ञानी व्यक्ति निर्भय, विवेकी, सहनशील सब को सुखकारक होता है।

ईश्वर की सर्वत्र विद्यमानता

ईश्वर के स्वरूप को बताने के लिये वेद में आता है

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (यजु. ४०-५)

परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है सो अविद्वान् समझते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सब जगहों में भरा है, अतः कभी चलायमान नहीं होता। **'तन्नैजति'** वह परमात्मा कभी नहीं चलता, सर्वत्र एक रस निश्चल होके भरा है। **'तद्दूरे'** दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है। **'तद्वन्तिके'** सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी विद्वान् विचारशील पुरुषों के अत्यन्त निकट है। वह आत्मा का भी आत्मा है क्योंकि वह सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अखण्ड एकरस सब में व्यापक हो रहा है।

ईश्वर के स्वरूप को जताने का बार-बार वेद में वर्णन आता है, क्योंकि ईश्वर में इतना सामर्थ्य, शक्ति, ज्ञान है कि समस्त विश्व ईश्वर के सहारे से ही चलता है। बिना ईश्वर की शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान-विज्ञान के कोई भी जड़-चेतन पदार्थ व्यवहार में अपने आपको स्वयं उपस्थित नहीं कर सकता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, अच्छे-बुरे-कर्म करने के लिये। पर करने का सामर्थ्य जो कुछ बल-ज्ञान-साधन-सम्पत्ति आदि है वह सब ईश्वर का दिया हुआ है। जीवात्मा ईश्वर के दिये हुए सामर्थ्य के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। जो ईश्वर के विषय में यथायोग्य नहीं जानता-मानता-करता वह कृतघ्न है। यदि जानता-मानता-करता है तो उसका आकर्षण, प्रीति, झुकाव ईश्वर की ओर होता है। उसका ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ता है।

एजति = चलता है, **नैजति** = नहीं चलता है। गुणों सहित ईश्वर को बताना 'सगुण वर्णन', जो गुण ईश्वर में नहीं उन्हें बताना 'निर्गुणवर्णन' है। ईश्वर नहीं चलता-सब जगह भरा है, एक जगह से दूसरी जगह जा ही नहीं सकता। आना-जाना एक देशीय का होता है। ईश्वर खड़ा भी है और सब जगह है। जो व्यक्ति ऐसा समझ लेता है उसका मन कहाँ दौड़ेगा, कहाँ भागेगा ? पर व्यक्ति ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने से भागता है, डरता है; क्योंकि ऐसा करने पर उसकी आज्ञानुसार वैसा ही बनना पड़ेगा।

ईश्वर को योगाभ्यासी ज्ञान से बुद्धि के माध्यम से देखते हैं। जो अधर्म से अपने को नहीं हटाते उनसे ईश्वर दूर है, पास में रहते हुए भी नहीं दीखता। ईश्वर से सम्बन्ध नहीं टूट सकता, चाहे कहीं भी दौड़ लगाओ वह सर्वत्र पहले ही खड़ा मिलेगा।

ईश्वर से उत्पन्न जगत्

''**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**''। ईश्वर से पूर्व कोई पदार्थ नहीं था। इस वाक्य से भ्रान्ति हो सकती है। यह संसार ईश्वर के स्वरूप से उत्पन्न हुआ है, ऐसे स्थल पर भ्रान्ति हुआ करती है कि ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं था तो जीव और प्रकृति भी उससे उत्पन्न हुए। परन्तु यहाँ वक्ता का अभिप्राय व प्रकरण भी ध्यान में रखना पड़ता है। इसका एक अर्थ है जो ये पदार्थ प्रकृति से बने हैं, वे ईश्वर से पहले नहीं थे। इसका दूसरा अर्थ-जीव व प्रकृति के होते हुए भी ईश्वर से पहले इनका कुछ भी व्यापार (व्यवहार में) न था।

ईश्वर से जगद् उत्पन्न हुआ अर्थात् ईश्वर ने बनाया तो बना, जैसे पाचक से रोटी बनी। इसका मतलब पाचक ने रोटी आटे में से बनाई, न कि अपने शरीर में से ही रोटी बनाई। सो ईश्वर ने प्रकृति से जगत् बनाया न कि अपने में से (= अपने स्वरूप से) जैसे मकड़ी अपने शरीर में से जाला बनाती है, न कि स्वयं अपनी आत्मा में से। 'समुद्र नदी का दृष्टान्त' इसमें दो बातें हैं। क्या समुद्र में नदी जैसे योग-संयोग वाले परमाणु हैं। दूसरा नदियाँ समुद्र में मिलती हैं तो नदी के जल कण अपना अस्तित्व नहीं खोते। समुद्र के परमाणु भी रहते हैं और नदी के अपने परमाणु भी रहते हैं।

सर्वत्र बुद्धि पूर्वक क्रियायें होती हैं। क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है। ईश्वर सर्वज्ञ है। करोड़ों लोगों द्वारा ईश्वर को ठीक न मानने-जानने से चरित्र, विद्या, परोपकार आदि का नाश हो गया।

'**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' ईश्वर को तोलने-मापने का साधन नहीं है। उस ईश्वर के सदृश भी अन्य पदार्थ नहीं है। जनता ईश्वर को वेद के अनुरूप न समझने से, ईश्वर को सही मानने वालों को पक्के नास्तिक और अशुद्ध मानने-जानने वालों को आस्तिक मान रही है। इस से गलत रूप में पूजा पाठ बढ़ रहे हैं। गलत रूप में माना जायेगा तो उसकी आज्ञा, उपदेश की अवज्ञा होगी। पूरा जीवन पूजा-पाठ में बीत गया पर ईश्वर से सम्बन्ध नहीं जुड़ा।

ईश्वर मित्र

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेतत्सत्यमङ्गिरः॥

(ऋ. १-१-१-६)

हे (**अङ्ग**) मित्र! जो आपको आत्मा आदि दान करता है, उसको (**भद्रम्**) व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो, (**अङ्गिरः**) हे प्राणप्रिय! यह आपका सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना, यही आपका स्वभाव हमको अत्यन्त सुखकारक है, आप मुझको ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये, जिससे सब दुःख दूर हों, हम को सदा सुख ही रहे।

जो हमारा कल्याण हित चाहता है वह ईश्वर हमारा मित्र है। लोक में भी कुछ मित्र होते हैं पर दोनों में अंतर है। संसार में कोई एक काल में मित्र तो अन्य काल में अमित्र हो जाता है; परन्तु ईश्वर किसी भी काल में कभी भी मित्रता नहीं छोड़ता। ईश्वर की मित्रता अनादि काल से है, अनन्त काल तक रहेगी। मनुष्य की मित्रता बदलती रहती है।

हमें बिच्छु, सर्प आदि से अपनी रक्षा तो करनी है, परन्तु उन्हें भी आत्मवत् देखना है। डरना व रक्षा करना अलग-अलग है। इनसे बचना भी पड़ेगा व मित्र भी समझना पड़ेगा। जैसे बच्चा माँ के माथे पर लोटा मारे तो माँ उससे बचती है पर प्यार तो फिर भी करती है। जो गुरु हित के लिये दण्ड देवे वह ठीक है। परन्तु आज उलटा-कि जो दोष करने पर दण्ड देवे वह बुरा और न देवे वह अच्छा।

दाशुषे-जो-दान-सेवा करता है उसको निश्चय से लौकिक सुख व मुक्ति सुख ईश्वर देता है।

ईश्वर होता

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत्॥

(ऋ. १-१-१-५)

हे सर्वदृक्! सब को देखने वाले (**क्रतुः**) सब जगत् के जनक (**सत्यः**) अविनाशी (चित्रश्रवस्तमः) आश्चर्यश्रवणादि, आश्चर्यगुण, आश्चर्य शक्ति, आश्चर्य रूपवान् और अत्यन्त उत्तम आप हो, आपके तुल्य वा आप से बड़ा कोई नहीं है, हे जगदीश! (**देवेभिः**) दिव्य गुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट होवो सब जगत् में भी प्रकाशित हों,

जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुण युक्त हो, वह आपका ही है। हम तो आपके पुत्र तथा भृत्यवत् हैं।

अग्निर्होता। उसका नाम 'होता' है जो हमको अच्छी-अच्छी चीजें देता है। ईश्वर हमको समस्त विश्व के पदार्थों को बना कर देता है। दूसरे हमें ज्ञान-विज्ञान देता है, आनन्द-बल देता है सो वह होता है। दूसरा अर्थ है लेने वाला। मुक्ति में जब अवधि पूरी होती है लौटा देता है। आज धनपति है कालान्तर में नहीं रहता। यह समझे कि ईश्वर ने लौटा लिया सो दु:खी नहीं होता। मौत का पता लग जाये तो करोड़पति दानी बन जाता है।

कवि = ईश्वर सर्वज्ञ कहा गया, अरबों लोग जो कुछ भी क्षण-क्षण में सोचते -करते हैं उसे ईश्वर प्रतिक्षण जानता है। ईश्वर की जानकारी के बाहर कुछ नहीं होता। जब ईश्वर सब कुछ जान रहा है तो मनुष्य के जानने न जानने से क्या डरना। तो अपने आप जानबूझ कर ईश्वर को अर्पण हो जाओ, वरना वह सब कुछ जान तो रहा ही है।

जो मैं सोचूँगा, बोलूँगा, करूँगा उसके अच्छे-बुरे फल से मैं बच नहीं सकता। यह अनुभव करना अत्यन्त कठिन है। यदि शत-प्रतिशत सोचता है कि बुरे का फल अवश्य मिलेगा, तो बुराई करने का विचार तक भी नहीं कर सकता।

ईश्वर सर्वरक्षक

ईश्वर आह्वान और रक्षा :- वेद मन्त्रों में बातें संकेत रूप में कही गई हैं। जो संकेत की विद्या को जानता है वह उसे बढ़ाते-बढ़ाते उसके तल तक पहुँच जाता है। वाक्य का सीधा अर्थ लगाने से अनर्थ हो जाये। जो भाषा विज्ञान (शैली) को नहीं जानते वे 'ईश्वर-आह्वान' का अर्थ ऐसा करते हैं जैसे लोक में दूर के व्यक्ति को बुलाते हैं। यहाँ आह्वान का अर्थ है जो ईश्वर हमारे निकट पहले से उपस्थित है उसके गुण (आनन्द, ज्ञान आदि) की प्राप्ति के लिये उससे आबद्ध हो जाना।

ईश्वर कैसे रक्षा करता है ? :- लोक समझते हैं जैसे एक यात्री जाता है, चोर उसे लूटता है। पर एक सांप निकल कर चोर को डसता है, वह यात्री बच गया। कुएँ में तीन पड़े, दो मरे एक बच गया। दुर्घटना में कुछ मर गये, कुछ बच गये। यह ईश्वर के रक्षा का परिणाम नहीं। ये दृष्टान्त गलत हैं। यह सब क्रिया-भेद से परिणाम-भेद है। एक बच्चा कुएँ में दीवार से टकराया

वह मर गया, दूसरा सीधा पानी में पड़ा वह बच गया। किसी को दुर्घटना में मर्म स्थान पर चोट लगने पर वह मर गया, अन्य को कठोर स्थान पर लगने से वह नहीं मरा, बच गया। ईश्वर की रक्षा का क्षेत्र वहाँ तक रहता है जहाँ तक, जब तक जीवात्मा की स्वतन्त्रता का अवरोध नहीं होता, हनन नहीं होता। यदि जीवात्मा अल्पज्ञता से, भूल से, स्वभाव से द्वेष के कारण दूसरे को कष्ट देता है, तो ईश्वर हाथ पकड़ कर उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं करेगा तथा पीड़ित होने वाले की उस समय रक्षा भी नहीं करेगा। हाँ, इसका दण्ड एवं क्षतिपूर्ति बाद में न्याय के रूप में अवश्य करता है।

नास्तिक जो ईश्वर को नहीं मानते वे कहते हैं कि संसार के बनने में ईश्वर का सहयोग नहीं। यह सब रचना अपने आप ही हो जाती है; परन्तु व्यक्ति अपने शरीर की रचना को गौर से देखने पर आश्चर्यचकित हो जायेगा। क्या मनुष्य यूँ ही पैदा हो गये ? और हो रहे हैं ? रचना विशेष को देखकर अन्त में यह मानना पड़ता है कि दृश्यमान पदार्थ व प्राणियों के शरीर ईश रचना से उत्पन्न होते हैं, उसके सहारे से जीते हैं तथा उस द्वारा प्रलय को प्राप्त होते हैं।

ईश्वर हमारी रक्षा अनेक प्रकार से करता है

(१) भगवान् की रक्षा का एक भाग यह है कि उसकी रक्षा के बिना शरीरधारी जीवन धारण नहीं कर सकता। रक्षित अर्थात् जीवित नहीं रह सकता। मां के पेट में बच्चा किस प्रकार जीवित रहता है। ईश्वर ने मां की नाड़ी से बच्चे की नाड़ी का सम्बन्ध कर पोषण देकर रक्षा की है। हम श्वास लेते, खाते, पचाते हैं। शरीर में सात धातु-रस-रक्त मांस आदि बनते हैं, यह व्यवस्था ईश्वर ने की है।

(२) बुरे काम करने में भय, शंका, लज्जा, संकोच उत्पन्न करता है तथा अच्छा काम करने की योजना में निर्भीकता, आनन्द और उत्साह पैदा करके, पितृवत्-मातृवत् हमारी रक्षा करता है।

(३) ईश्वर के माध्यम से सब क्रियायें हो रही हैं। वह जीवन देता है, सब व्यवस्था करता है। ईश्वर प्रदत्त साधनों के बिना व्यक्ति क्षण भर भी नहीं जी सकता।

(४) आप्त (विद्वान्) लोक ईश्वर का सामर्थ्य प्राप्त करके हमारी रक्षा करते हैं। भिन्न-भिन्न विद्या क्षेत्र में अच्छे धार्मिक विद्वान् जैसे

आयुर्वेद के क्षेत्र में धार्मिक वैद्य प्राणों का देने वाला होता है। मूर्ख अधार्मिक वैद्य प्राण हरता है। विज्ञान के क्षेत्र में भी धार्मिक वैज्ञानिक खोज करके अनेकों का भला करता है। अधार्मिक वैज्ञानिक विनाश के साधन जुटा कर हानि भी करते हैं। धन उपार्जन के क्षेत्र में भी धार्मिक विद्वान् कृषि अनुसंधान करके अधिक उपज का मार्ग खोजकर भलाई करता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में काम, क्रोध, लोभ, मोह मनुष्यों को पीसते हैं, धार्मिक विद्वान् अपने उपदेश से उनका निवारण करता है। जो व्यक्ति विद्वान् व धार्मिक बन जाता है तो उस विद्या से जो सुख मिलता है उसके आगे सांसारिक सुख हजारवाँ अंश भी नहीं होता। जब धार्मिकता नहीं जुड़ती तो धन-बल-विद्या अभिमान को पैदा करते हैं। जो शास्त्र पढ़ा हो पर यम-नियम का पालन नहीं करता, तो वह घमण्डी हो अपना व समाज का अनिष्ट करता है।

(५) मानव ही क्या, हर प्राणी को सुरक्षित व सुखी रखने के लिये सर्जनहार ने अनुपम भेंट प्रदान की है। ईश्वर प्रदत्त हवा, पानी, प्रकाश खुराक (वृक्ष-वनस्पति, फल-फूल) आदि जीवन में आनन्द, उमंग, उत्साह हर्ष आदि प्रदान करते हैं।

(६) अच्छे -बुरे-कर्म -फल रूप अच्छी-बुरी योनि द्वारा सुधार के लिये, कल्याण की भावना से दुःख-सुख देकर रक्षा करता है। राजा न्यायकारी हो तो पाप अत्याचार बन्द हो जाते हैं। सुख-शान्ति की स्थापना में राजा रक्षक है। इसी प्रकार ईश्वर बुरे कर्मों का फल गधे-घोड़े बनाकर, सजा देकर हमारी रक्षा करता है।

(७) सूर्य-पृथ्वी की उचित दूरी रख बुद्धिमत्ता से हमारे प्राणों की रक्षा करता है। वर्षा, अग्नि, जल, वायु आदि से शरीर और जगत् की रक्षा करता है। सब प्राणियों को अपने प्राणों की रक्षा के लिये सतर्कता का स्वाभाविक ज्ञान व मनुष्य को विविध कार्य क्षेत्र में संलग्न रखते हुए स्वरक्षण हेतु बुद्धि आदि साधन दिये हैं।

(८) वेद ज्ञान देकर रक्षा-ईश्वर ने सब पदार्थ बनाकर दिये हैं। इनका उपयोग कैसे करें इसके लिये वेद-ज्ञान भी दिया है। आज भी यदि हम ईश्वराज्ञा का पालन व उपासना करते हैं तो ईश्वर ज्ञान देता है,

रक्षा करता है। **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। ईश्वर पूर्व हुए गुरुओं का भी गुरु है, आगे भी रहेगा। जैसे गुरु विद्या देकर रक्षा करता है इसी प्रकार ईश्वर भी विद्या द्वारा रक्षा करता है।

इस प्रकार ईश्वर की विविध रक्षाओं को जानें व समझें। जब व्यक्ति धनवान्, बलवान्, रूपवान्, विद्वान्, बुद्धिमान् होकर यह समझे कि वह सब ईश्वर प्रदत्त है मेरा नहीं, तो वह निष्काम भाव से तन, मन, धन से सेवा व रक्षा करता है, बदले की भावना से नहीं करता। ईश्वर जिस प्रकार की रक्षा करता है उसको वैसा जानता है, तो ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ता है, उलटा जानने से नहीं। ईश्वर को गलत मानने, गलत ढंग से पूजा करने से ईश्वर से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। शुद्ध उपासना द्वारा ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ने पर बुराई से हटकर दुःख से छूट जाता है।

ईश्वर से धन विद्या की प्राप्ति

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥

(ऋ. १-१-१-३)

व्यक्ति प्रार्थना करता है - हे ईश्वर ! मैं आपके द्वारा रयि (धन-सम्पत्ति-विद्या) को प्राप्त करूँ। इसकी संगति ठीक लगाते हैं तो ईश्वर हमें रयि से परिपूर्ण करता है।

क्या ईश्वर किसी को सोना-चाँदी सीधा देता है ? उसने तो ये धातुएँ धरती में दे दी। व्यक्ति उसे निकाल कर शुद्ध करे। इंजन बनाने वाले ने लोहे से इंजन बनाया, पर लोहा ईश्वर ने निर्माण किया। इसी प्रकार धन-धान्य को भी ईश्वर ने उत्पन्न किया। ईश्वर की सहायता से सूर्य, बीज, भूमि, खाद मिले। एक दाने से ईश्वर हजार दाने बनाता है। क्या कोई वैज्ञानिक एक दाना भी बना सकेगा।

अंगूर, मिर्च, नीबू, खजूर सब पास पास खड़े हुए हैं। कैसे पास पास होते हुए भी अलग-अलग रस वाले हुए ? बीज पहले ईश्वर ने बनाये। सत्त्व-रज-तम से अलग-अलग खट्टे-मीठे बनाये। ईश्वर से धन प्राप्त करने का अभिप्राय है व्यक्ति परिश्रम करके ईश्वर प्रदत्त पदार्थ हासिल करे। इसी प्रकार विद्या देता है। ऋषियों को सृष्टि के आदि में परिश्रम-पुरुषार्थ के आधार पर विद्या दी, इसी प्रकार अब भी जो कोई समाधि लगाये तो विद्या देता है।

आज विद्या की कीमत धन के सामने कुछ नहीं समझी जाती, परन्तु ऋषियों की मान्यता है जो सुख धन-धान्य व लौकिक वस्तु से मिलता है वह विद्या से मिले सुख का हजारवाँ भाग भी नहीं। विद्या माता-पिता, आचार्य और ईश्वर सभी से मिलती है।

आज का धन चोर और डाकुओं को पैदा करता है। विद्या यश और वीरों को पैदा करती है।

न्यायकारी वज्ररूप ईश्वर

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥

(ऋ. १-७-१०-१२)

हे दुष्ट नाशक परमात्मन्! आप (**वज्रभृत्**) दुष्टों के छेदक सामर्थ्य से सर्वशिष्टहितकारक दुष्टविनाशक, जो न्याय उसको धारण कर रहे हो, 'प्राणो वा वज्रः' अत एव (**दस्युहा**) दुष्ट पापी लोगों का हनन करने वाले हो, (**भीमः**) आपकी न्याय आज्ञा को छोडने वालों पर भयंकर भय देने वाले हो, (**सहस्रचेताः**) सहस्रों विज्ञान आदि गुण वाले आप ही हो। (**शतनीथ**) सैकड़ों असंख्यात् पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले हो, (**ऋभ्वा**) अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाश वाले तथा महाबलवाले हो (**न, चम्रीषः**) किसी की चमू (=सेना) के वश को प्राप्त नहीं होते हो। (**शवसा पाञ्चजन्यः**) स्वबल से आप पाञ्चजन्य (= पाँच प्राणों के) जनक हो (**मरुत्वान्**) सब प्रकार से वायुओं के आधार तथा चालक हो, सो आप (**इन्द्रः**) हमारी रक्षा के लिये प्रवृत्त हों, जिससे हमारा कोई काम न बिगड़े।

वेद मंत्र में ईश्वर को वज्र-भयंकर-कठोर-बलशाली कहा है। जैसे बिजली पहाड़ पर गिरती है तो उसे भी तोड़ देती है। जो व्यक्ति ईश्वर को भयंकर वज्ररूप जानता है, दण्डदाता व न्यायकारी जानता है वह पाप कर्मों से बचकर ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। जो ईश्वर को वज्र सहित जानता है वह कुछ भी उलटा कर्म नहीं करेगा। जैसा मेरा कर्म, उपासना व ज्ञान रहेगा वैसा मुझे ईश्वर से फल प्राप्त होगा। पहले ज्ञान में गड़बड़ होती है फिर कर्म में आती है। ईश्वर को छोड़ के अन्य की उपासना करेगा तो उसको दण्ड जरूर मिलेगा। यदि सही उपासना करेगा तो इसी प्रकार ज्ञान-कर्म भी ठीक करेगा।

ईश्वर दुष्टों का नाश करने वाला है, इसका लोगों ने गलत अर्थ माना कि ईश्वर अवतार लेकर नाश करेगा, यदि ऐसा मान लिया जाये तो विनाश के लिये अनेक शरीर धारण करने पड़ेंगे। वस्तुतः ईश्वर को शरीर धारण करने की जरूरत नहीं। ईश्वर दुष्ट कर्म करने वालों को सीधे का सीधा नष्ट नहीं करता, परन्तु मृत्यु के बाद उनको गधे-घोड़े आदि की योनि देकर सजा भुगवाता है। पाप करने वाले अधिक हैं इसीलिये तो मनुष्येतर प्राणी अधिक हैं।

कोई कहे गधे, सूअर, अपनी मस्ती में मस्त व महान् विद्वान् अपनी मस्ती में मस्त इस प्रकार दोनों समान हुए। ऐसा मानने वाले विचार नहीं करते कि जो सुख का विकास मनुष्य में है उसका हजारवाँ अंश भी सुअर, गधे, कबूतर आदि में नहीं। क्या वे कभी समाधि लगा सकते हैं?

अच्छा कर्म करने वाले को सतत ईश्वर से ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, उत्साह प्राप्त होता है। दुष्ट को सजा इस रूप में कि वह भयभीत क्रोधित, दुःखी रहकर दण्ड भोगता रहता है।

ईश्वर की सर्वप्रियता

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्य्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥

(ऋ-१-१-९-२)

अर्थ - (**पुरूतमम्**) अत्यन्त उत्तम और शत्रु विनाशक ईश्वर (**पुरूणाम्**) बहुविध जगत् के पदार्थों के (**ईशानम्**) स्वामी और उत्पादक को (**वार्याणाम्**) वरणीय, परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के (**इन्द्रम्**) परम ऐश्वर्यवान् आप को (**सोमे**) उत्पत्ति स्थान संसार (**सचा**) अत्यन्त प्रेम से (**सुते**) आप से उत्पन्न होने से हृदय में गावें।

मंत्र में एक बात कही कि हे ईश्वर! आप सब से श्रेष्ठ- उत्तम हो। ईश्वर की श्रेष्ठता को प्रायः न समझने के कारण व्यक्ति लौकिक वस्तुओं में फँसा रहता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के विषयों में व्यक्ति लगा रहता है। कोई न कोई लौकिक विषय उसके व्यवहार में सेवनीय बना रहता है। ये पदार्थ उत्तम हैं या ईश्वर उत्तम है, इसका परीक्षण नहीं करता। इसलिये जो विषय इन्द्रियों के सामने आते हैं उन्हीं का सेवन उन्हीं की उपासना में लगा रहता है।

ईश्वर के बारे में व्यक्ति को अपने आप से पूछना चाहिये जो शरीर व इसका सौन्दर्य है क्या इसे उसने स्वयं बनाया? जिन आँखो से देखता है क्या

वह व्यक्ति ने स्वयं बनाई ? उँगली क्या स्वयं बनाई ? फिर उँगलियों पर रंग लगा लगा कर इतरा रहा है कि मेरी उँगली-मेरी उँगली। हमने क्या बनाया ? लौकिक व्यक्तियों को अपने बाल-बच्चों की बहुत चिन्ता है परन्तु जो भी सुन्दरता दीखती है वह सब ईश्वर प्रदत्त है।

जो कुछ ईश्वर ने हमारे लिये बनाया उसका उचित प्रयोग करें और प्रयोग करते समय ईश्वर को न भूलें। ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रम में जाकर सन्ध्या, हवन, पञ्चमहायज्ञ छोड़कर ऐड़ी से चोटी तक धन कमाने में ही लग जाता है। गृहस्थ के धर्म का पालन नहीं करता। क्या वह मानव जीवन जी रहा है ?

मैं आत्मा, ईश्वर की दी हुई चीजों व ज्ञान के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। यह उलटा ज्ञान है कि- पति ही भगवान्, केवल बच्चों का पालन पोषण ही भक्ति, माता-पिता की सेवा ही ईश्वर पूजा है आदि। यह सब हमारा कर्त्तव्य (धर्म) है इसे करना चाहिए परन्तु यह सब सामर्थ्य कहाँ से आया ? यह सब ईश्वर प्रदत है।

माँ ने दूध, केले, हलवा सब पेट रूपी हँडिया में डाल लिये, उससे दूध बना तो बच्चे को पिला दिया। उसने तो केवल भोजन को पेट में डाल दिया-दूध किसने बनाया ? ईश्वर ने। फिर कहती है मेरा बच्चा ! मेरा बच्चा ! मैंने पाला।

मैं नाक, कान, आँख आदि का प्रयोक्ता हूँ। ये मैंने स्वयं नहीं बनाये। इसको जैसे का तैसा मानने से क्यों हटते हो ? जिस प्रकृति का उपयोग करते हैं इस प्रकृति को इस रूप में किस ने लाकर खड़ा किया ? क्या किसी जीव में सामर्थ्य है ? वैज्ञानिक जिन धातुओं से शोध-आविष्कार करते हैं वे भी ईश्वर प्रदत्त और जिन नेत्र-हस्त आदि साधनों से करते हैं वे भी ईश्वर प्रदत्त। यह भौतिक विज्ञान भी ईश्वर ने अपने साधनों द्वारा दिया।

हम में जो विद्या है, बल है, धन है उसका स्वामी ईश्वर है। मनुष्य इसे अपना मानता है यह रोड़ा है। इसे हटायें। बन्दरिया की तरह मरे बच्चे को छाती से चिपका कर न रखें। मैं-मेरे का सम्बन्ध हटायें।

वायो अनन्त बल परेश

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥

(ऋ. १-१-३-१)

(**वायो**) हे अनन्त बल परेश! (**आयाहि**) अपनी कृपा से हमें प्राप्त हो। (**दर्शत**) हे दर्शनीय! (**इमे**) वे (**सोमाः**) सोमवल्ली आदि औषधियों का उत्तम रस-श्रेष्ठ पदार्थ (**अरङ्कृताः**) उत्तम रीति से बनाये गये (**तेषाम्**) उनको (**पाहि**) स्वीकार करो (**श्रुधी**) सुनकर प्रसन्न होवें (**हवम्**) पुकार को।

उपासक ईश्वर को अपना माता-पिता मानकर प्रार्थना करता है। 'वायु' शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया गया है। जो लोग ऋषियों की परम्परा को नहीं जानते वे वेद का सही अर्थ नहीं जान पाते। वायु में एक ऐसा गुण है जो उथल-पुथल मचा देता है। चक्रवात आता है, तो कितना वेगवान् होता है, वृक्ष उखाड़ देता है। समुद्र में सात मञ्जिले जहाजों का कुछ पता नहीं चलता। इस वायु की भाँति ईश्वर भी वेगवाला है कि सारे संसार को धक्का देकर चला रहा है और सारी हलचल मचाता है। जैसे इच्छामात्र से, बिना दूसरे हाथ से थामे अपने एक हाथ को जीवात्मा उठाता है इसी प्रकार ईश्वर स्वयं बिना हिले-डुले क्रिया करता है। ईश्वर में क्रिया के बिना सृष्टि कैसे बनी ? जैसे चुम्बक स्वयं बिना हिले-डुले सुई को चारों ओर से खींच लेता है, क्रियाशील कर देता है।

दौड़-धूप स्थानान्तर करके क्रिया करना तो एक-देशीय में होता है। दौड़धूप की क्रिया सर्वव्यापक को नहीं करनी पड़ती। भौतिकवादी रूपवाली वस्तु को तो वस्तु मानते हैं, रूप रहित को पदार्थ ही नहीं मानते। जब ईश्वर में रूप है ही नहीं तो उसे आँख से कैसे देख सकते हैं। भौतिक वस्तुओं का ही रूप होता है। ईश्वर तो रूप रहित ज्ञान-गुण-बल-क्रिया वाला द्रव्य-चीज-वस्तु पदार्थ है।

स्तुति से गुणों की प्राप्ति

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥

(ऋ. १-१-१-२)

हे सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ईश्वर अग्ने! (**पूर्वेभिः**) विद्या पढ़े हुए प्राचीन (**ऋषिभिः**) मन्त्रार्थ देखने वाले विद्वानों और (**नूतनैः**) वेदार्थ पढ़ने वाले नवीन ब्रह्मचारियों से (**ईड्यः**) स्तुति के योग्य (**उत**) और जो हम लोग मनुष्य, विद्वान् वा मूर्ख हैं, उनसे भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो, सो आप हमारे और सब संसार के सुख के लिये दिव्य गुण अर्थात् विद्या को कृपा से प्राप्त कराओ। आप ही सब के इष्टदेव हो।

ईश्वर स्तुति से हमें क्या उपलब्ध होता है ? ईश्वर के गुणों का वर्णन, ईश्वर के विषय में जानना भी स्तुति है । जो गाते-कीर्तन करते हैं वह भी स्तुति है । किसी के अच्छे गुण को सुनने पर उस पदार्थ को प्राप्त करने की रुचि हो जाती है । ठीक रूप में सुनना 'स्तुति' गलत रूप में सुनना 'निन्दा' है ।

ईश्वर को उलटा मानना- गाना कि हे ईश्वर ! आप चौथे या सातवें आसमान में अथवा वैकुण्ठ, परमधाम में रहते हैं । यह निन्दा हुई । और गाते क्या कि :-

भोले बाबा से चाहे जो करा लो जी,
चाहे दुकान चलवा लो खेती करवा लो जी ।

और ये अवसरवादी लोग जिस मञ्च पर जायेंगे उसी मञ्च पर ऐसी ही बात करेंगे-कहेंगे भाइयों सभी धर्म मार्ग ठीक हैं । यह निन्दा है ।

क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा जानना, मानना, कहना, करना है वह स्तुति, उलटा जानना निन्दा है ।

श्रवण-मनन-ज्ञान द्वारा स्तुति की जाती है । इससे ईश्वर के दिव्य गुण हमें प्राप्त होंगे । जो ईश्वर को ठीक नहीं जानता-मानता वह कैसे जानेगा कि अच्छे-बुरे काम क्या हैं ? अच्छे-बुरे काम की अन्तिम कसौटी ईश्वर ही है । क्योंकि वह अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा नहीं बताता । किये हुए उपकार को नहीं मानना कृतघ्नता है । जब व्यक्ति गुणों को जानता है तो उनको प्राप्त करने की प्रार्थना (याचना) भी करता है ।

त्याग पूर्वक भोग

जितना भी जड़-चेतन जगत् दिखाई देता है और जो नहीं दिखाई देता है वह सारा का सारा ईश्वर से आच्छादित है ।

"**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**" संसार में बनी हुई चीजों को हम खाते-पीते प्रयोग में लाते हैं । भोजन खाते हैं, बड़ा स्वादिष्ट है । बिना राग के केवल शरीर पोषण के लिये आवश्यकतानुसार खाते हैं तो ठीक, परन्तु जब अधिक राग और स्वाद से खाते हैं तो अनर्थ करते हैं । त्याग पूर्वक खानेवाला अनुचित मात्रा में नहीं खाता । राग वाला मात्रा से अधिक खाता है । अधिक लेकर जूठा छोड़ता है, इससे अन्य के भाग की हानि भी करता है । और राग के कारण वह ईश्वर से प्यार भी नहीं कर पायेगा । जो कपड़े भी राग से

पहनता है उससे भगवान् छूट जायेगा । बाहर की चीजों को इतना सुसज्जित किया जाता है कि ईश्वर उपासना कि लिये आधा घण्टा भी नहीं बचता; परन्तु त्याग पूर्वक प्रयोग (भोग) करता हुआ ईश्वर तक पहुँच जायेगा । व्यक्ति उठते ही एड़ी-चोटी का जोर लगाता है - संसार की चीजों को प्राप्त करने के लिये और दिनभर यही करता रहता है । भोग मनोरथों में उलझा व्यक्ति कभी मुक्ति सुख को नहीं पा सकेगा ।

तमोगुण का प्रभाव अकर्मण्यता

तमोगुणी पड़ा रहना चाहता है । आलस्य में, सोने में, काम नहीं करना चाहता परन्तु फल को चाहता है । पड़े रहने में ही आनन्द-सुख मानना । बिना कर्म किये फल चाहना । विद्यार्थी न पढ़ता न लिखता । परन्तु परीक्षा में प्रथम आना चाहता है । यह मानसिकता क्यों बनी कि काम नहीं करना लाभदायक है । नींद को बढ़ाते-बढ़ाते बीसों घण्टे कर लेता है । और रोटी खाते-खाते भूख बढाता है । पण्डे पांच छः किलो बर्फी खा लेते हैं । यह मानव का स्वाभाविक गुण नहीं । परन्तु प्रकृति के संसर्ग से तमोगुण के प्रभाव से हम स्वयं आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता को बढ़ाते जाते हैं । जीवात्मा का स्वाभाविक गुण तो 'प्रयत्न' (कर्म करना) है । कर्म तो करने लग गये परन्तु निष्काम भावना नहीं आयेगी तो बुरे काम से नहीं बचेंगे । अतः निष्काम कर्म ही उत्तम शुभ कर्म हो सकते हैं । लौकिक कामना कर्मानुसार एक सीमा तक तो ठीक, परन्तु अपने दान आदि कर्म की मात्रा से अधिक मान की इच्छा रखना या काम कोई करे नाम अपना हो यह चाहना अन्याय है ।

जीवन की सार्थकता

व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा भी क्षण आता है । जब वह वस्तुतः कुछ करना चाहता है, तो उसे जीवन में आने वाले सुख और दुःख, आनन्द और पीड़ा, सफलता और विफलता के विचारों से ऊपर उठ जाना पड़ता है ।

दुनियाँ को जीतना हो तो व्यक्ति को प्रथम अपने आपको जीतना पड़ता है । व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि उसके जीवन का कार्य एक यज्ञ है । उसका उद्देश्य धर्म, विज्ञान, साहित्य लेखन, मानव-सेवा, तत्त्वज्ञान व योगाभ्यास से ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना हो और इसका फल अन्तिम कुछ भी रहे उसे इस कार्य रूपी यज्ञ में स्वयं को सर्वस्व आहुति के रूप में

स्वाहा करना है। इसे समझे बिना व्यक्ति कार्य कर ही नहीं सकता। प्रयोजन लक्ष्य लेकर चलना ही पड़ेगा।

स्वयं की शक्ति और बुद्धि अनुसार अपनी प्रवृत्तियों का कुछ केन्द्र-बिन्दु तो निश्चित करना ही पड़ेगा। सुख-दु:ख, आनन्द-पीड़ा, सफलता-विफलता से किसी भी व्यक्ति का जीवन सर्वथा मुक्त नहीं होता। चाहे मन पसन्द भोजन मिला हो या निराहार रहना पड़ा हो परन्तु सोने से पूर्व व्यक्ति यह कहने में समर्थ हो जाये कि आज का अपना कार्य मैनें कर लिया है। तो यह आत्म संतोष ही उसके जीवन साफल्य का माप-दण्ड है।

मन को वश में करना, अपने अधिकार से बाहर कुछ नहीं सोचना, न करना। यह असम्भव सा दीखता है। यह अयोग्यता व अनभ्यास के कारण असम्भव लगता है। अभ्यास और वैराग्य से मन वश में होता है।

अपने दोषों से जो व्यक्ति प्यार करता है वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। एक बात ठीक कर लेने से अनेक बातें ठीक होती चली जाती हैं। एक-एक विचार व्यक्ति को बिगाड़ने व सुधारने में सक्षम होता है। जो विद्या जिस नियम से आती है उसी नियम से प्राप्त करनी चाहिये। उस विद्या के अनुसार सब बातें करनी पड़ेंगी। उठना-बैठना, खाना-पीना, विचारना-करना आदि आवश्यक निर्देश को सामने रखकर सुधार करेंगे तो सफलता मिलेगी, इससे विपरीत ध्यान न दिया तो सफलता नहीं मिलेगी।

''मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जानने वाला है'' । यह ऋषि की भाषा दिखावे के लिये नहीं है, जीवन की सार्थकता के लिये है। अपने प्रयत्न और ईश्वर प्रदत्त सामर्थ्य दोनों से मनुष्य सत्यासत्य को जान सकता है किन्तु हठ, दुराग्रह, मिथ्या-अभिमान और अविद्यादि दोषों के कारण झूठ में झुक जाता है। जान गया फिर भी नहीं मानता, यह हठ है। दुराग्रह उलटा आग्रह अड़ जाता है।

व्यक्ति जन्म से मरण पर्यन्त सुख और सुख के साधनों की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहता है और जहाँ-जहाँ से उसे सुख मिलता है उसे प्राप्त करने में दूसरों के साथ अनुचित व्यवहार करता है। इस प्रकार का व्यक्ति सत्यासत्य को नहीं जान सकता।

विचार ही से बन्ध-मुक्ति

विशेष विद्या की प्राप्ति विशेष परिश्रम से होती है। दु:खी हुए बिना दु:ख सहना और दु:ख को दु:खी होकर सहना इन में बड़ा अन्तर है। घर पर

सम्बन्धी आने पर उसे सुख पूर्वक सह लेते हैं; परन्तु कोई अपरिचित आ जाये तो खिन्न भाव से रहते हैं। व्यक्ति द्वेष-क्लेश में पिसता रहता है। एक बार खट-पट होने से हमेशा उससे दु:खी होता रहता है। पूर्वकृत बुरे विचार, बुरे व्यवहार जब उपासना-साधना में आते हैं तो रोता है।

मान-अपमान सहन करना सीखना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो कष्ट सर्दी-गर्मी आदि तप समझ कर सहन करने चाहिए, इससे अभ्यास हो जाता है। सुविचार उत्पन्न करके, कुविचारों से युद्ध करके उन्हें नष्ट कर देता है। यह एक विज्ञान है सोचने का ढंग है। कुविचार ही मनुष्य के दु:ख (बन्ध) और सुविचार ही मुक्ति का कारण हैं।

सारा संसार इसलिये दु:खी है कि उसे ठीक ढंग से सोचना नहीं आता। ज्वर ग्रस्त व्यक्ति अधिक चिल्लाने से अधिक दु:खी हो जाता है। जीवन में सुविचार-कुविचार का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है।

व्यक्ति योगाभ्यास से विचारना-सोचना जानता है कि यह धन-सम्पत्ति मेरी नहीं, ईश्वर की है। और तो और मेरा शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ जिससे मैंने यह सब प्राप्त किया वे भी ईश्वर प्रदत्त हैं। मैं इनका रक्षण व उपयोग करूँगा। जब मेरा जन्म नहीं हुआ था तब या जब मर जाऊँगा तब इसमें से मेरा कुछ न था- न रहेगा। अरबपति मर जाये तो कौड़ी भी साथ नहीं जाती है। जो चीज आती है वह आती है। संयोग है तो वियोग होगा। इस निश्चित तथ्य को जो पहले ही से जान लेता है वह आने-जाने पर शोक नहीं करता।

मृत्यु दु:ख से छूटने का उपाय

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अ. १०-८-४४)

शब्दार्थ - (**अकामः**) कामना रहित (**धीरः**) धीर धृतिमान्, सर्वज्ञ (**अमृतः**) अविनाशी, सदा मुक्त (**स्वयम्भूः**) स्वसत्ता में परनिरपेक्ष (**रसेन तृप्तः**) आनन्द से तृप्त = परिपूर्ण (**कुतः + चन**) कहीं से भी (**न ऊनः**) न्यून नहीं । (**तम् + एव**) उस ही (**धीरम् + अजरम्**) धीर, अजर (**युवानम्**) सदा नूतन-जवान (**आत्मानम्**) सर्वव्यापक भगवान् को (**विद्वान्**) जाननेवाला (**मृत्योः न**) मौत से नहीं (**बिभाय**) डरता है।

वह सर्वथा कामना रहित (स्वयं की कोई इच्छा नहीं, पर जीवों की भलाई की इच्छा रहती है), धीर, अमर, स्वयं अपनी सत्ता से विद्यमान,

आनन्द से आप्लावित और हर तरह से पूर्ण है। उसी धीर, अजर, सदा एक रस रहने वाले आत्मस्वरूप को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

कोई वैज्ञानिक इस मृत्यु भय से छुटकारा नहीं दे सकता - नहीं पा सकता। पञ्च क्लेशों से छुटकारा नहीं दे सकता। **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'** । हे जिज्ञासु पुरुष ! मैं जिस-इस पूर्वोक्त बड़े-बड़े गुणों के युक्त सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप, अन्धकार वा अज्ञान से पृथक् वर्तमान, स्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को जानता हूँ। उसी को जान के आप भी दु:खदायी मरण को उल्लंघन कर सकते हो, इससे भिन्न मार्ग अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिये विद्यमान नहीं है।

योग साधक के लिये व्रत

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि । (यजु. १-५)

अर्थ : **अग्ने** = हे सत्य धर्म के उपदेशक ईश्वर। **व्रतपते** = सत्य भाषणादि व्रतों के पालक, अहम् = मैं, **व्रतम्** = सत्य आदि आदर्श व्रतों का **चरिष्यामि** = पालन करूँगा। **अहम् अनृतात्** = मैं असत्य आचरण से, इदं **सत्यं** = इस सत्य आचरण को, **उपैमि** = प्राप्त करूँ, मुझे शक्ति दो कि मैं **तच्छकेयम्** = इस कार्य में समर्थ होऊँ, **तन्मे राध्यताम्** = वह मेरा व्रत सफल होवे।

व्रत लेने का बड़ा महत्त्व है। उत्तम कार्यों में सब से अधिक सहयोग ईश्वर का ही होता है। आपने व्रत-संकल्प लिये, इनसे जीवन महान् बनेगा। जो व्यक्ति संकल्प लेकर चलता है वह विकास को प्राप्त होता है। जो व्रत लेकर नहीं चलता उसका जीवन निम्न स्तर को चला जाता है। व्रत का पांच क्षेत्रों मे विस्तार किया जा सकता है।

स्वयं में क्या त्रुटियाँ हैं। परिवार में और समाज की क्या कमियाँ हैं उन्हें दूर करें। फिर देश को देखें, शत्रुओं व दोषों को दूर करें। विशेषताओं की पूर्ति करें। इसी प्रकार विश्व और इतर प्राणियों के क्षेत्र में सोचना पड़ता है। जो व्यक्ति इन पांच क्षेत्रों में कार्य नहीं करता उसका जीवन अधूरा माना जायेगा।

आज का व्यक्ति झूठ बोलता, झगड़ा करता, चाय-अण्डा-मांस खाता है। सब देशवासी केवल अपने परिवार, व्यापार-धन्धे को देखने में

पड़ गये । विद्यार्थी जगत् सिनेमा, टी.वी., निरुद्देश्य भटकना वा नशा करने में व्यस्त है।

सम्प्रदायी अधिक से अधिक चेला-चेली मूंड़ने में वा भव्य मन्दिर, महालय, देवस्थान बनाने में लग गये। देश की तरफ किसी का ध्यान नहीं। इसी देश में पैदा हुए, इसी का अन्न-जल खाते-पीते व इसी की जड़ काटते, इसे विस्फोट से उड़ाना चाहते हैं।

व्यक्तिगत खाना-पीना तो पशु पक्षियों का भी होता ही है। ईश्वर को अपना माता-पिता नहीं स्वीकारते। सब के हित की बात नहीं सोचते। गद्दी पर बैठे। प्राणियों को खाने वाले लोग सर्वहित की बात कैसे सोच सकते हैं ?

आज देशवासी (हिन्दु) अपने शत्रुओं का तो साथ देता है; और अपनों को छोड़ देता है। जो रोग, शत्रु और दोष को छोटा मानता है उसे ये तीनों खत्म कर देते हैं। या तो इनको खत्म करो या स्वयं नष्ट हो जाओ। आन्तरिक शत्रु राग, द्वेष आदि और बाह्य शत्रु देशद्रोही राजा, मंत्री, सत्ताधीश आदि। जो अपने हितैषी की बात नहीं मानता वह विनाश को प्राप्त होता है। देश की यह दुर्दशा व्रतहीन-संकल्पहीन सत्ताधीशों ने ही की है।

अव्रती-दस्यु पिशाच हैं। व्रत व्यक्ति को मनुष्य बनाता है, ईश्वर से मिलाने का कार्य करता है। जो अपने व्रत-प्रतिज्ञा को नहीं पालता उसका विश्वास कोई नहीं करता। संगठन के बिना अकेला व्रती मारा जाता है। अत: व्रती को संगठन के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए।

व्रत का महत्त्व - योग विद्या से अपना और दूसरों का कल्याण होता है। जो कुछ यहाँ सीखा व किया - इस विषय में अब कुछ संकल्प-व्रत लेकर चलो, वरना आप अपना व दूसरों का कल्याण नहीं कर सकते। व्यक्ति सोचता है कि पहले जो व्रत लिये थे वे भंग हो गये, टूट गये अत: अब व्रत नहीं लूँगा। आप उन व्रतों को फिर से दोहरायें कि मैं उन्ही व्रतों का फिर से दृढ़ता पूर्वक पालन करूँगा। न चलने वाले से सहस्त्र वार गिरकर चलने वाला ठीक है। चलने वाला कभी न कभी मञ्जिल पर अवश्य पहुँचेगा, यह निश्चित बात है।

गुरु के पास रहते हुए भी यम-नियम का पालन नहीं करेंगे तो सफल नहीं होंगे। वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हुए भी सत्य को आचरण-व्यवहार में नहीं लायेंगे तो सफल नहीं होंगे। जो अपने दोषों को न देख अन्य के दोषों

को प्रधानता देता है, देखता है वह निष्फल होता है। सब अपने-अपने स्तर पर नियम बनायें और व्रत लें।

व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और विश्व के क्षेत्र में क्या करूँ, क्या न करूँ, यह विभाजन करना पड़ेगा। उन व्रतों पर दृढ़ रहकर वेद और राष्ट्र के रक्षण हेतु संकल्प लेना है। कई सोचते हैं अब नहीं, वृद्ध होकर जीवन लगा देंगे। पर अतिवृद्ध होकर जीवन में कुछ शेष होगा तो देगा ना ? जब जीवन में कुछ रहा ही नहीं तो क्या जीवन लगायेगा।

अनुव्रतः पितुः पुत्रः - जो सत्य न्याय मार्ग पर चलता है वह हमारा पुत्र व जो ईश्वर आज्ञा से विरुद्ध चले तो वह अपने घर में जन्म लेने मात्र से हमारा पुत्र नहीं।

एक प्रचार का काम, एक धन का सहाय, एक सेवा का कार्य, एक पुत्र वा पुत्री को देश, वेद, धर्म के लिये अर्पण करना। व्रत लो और उठते जाओ। बुद्धि पूर्वक न गिरें-शेष करते जायें। गिरने पर उठते चलो, बढ़ते चलो, मार्ग लम्बा है पर सफल अवश्य होंगे। ऋषि की बात माने, दुनियाँ की बात से न डरें।

जो पुरुष वा स्त्री वेद-राष्ट्र की सेवा को ही अपना उद्देश्य बनाना चाहे वे अविवाहित रह सकते हैं। आगे चलने वाले, मर मिटने वाले थोड़े भी होंगे तो पीछे चलने वाले बहुत हो जायेंगे। जैसे सुभाषचन्द्र बोस, चन्द्रशेखर, भगतसिंह आदि हुए। गलत बात को मूल से ही रोक दो, वह खत्म हो जायेगी। कोई झगड़ा नहीं, लड़ाई नहीं। आक्रमण करने वालों से बुद्धिपूर्वक (जानकर) रक्षा करना। झूठ बोलने वाले की झूठ पकड़ी जाने पर वह विरोध करेगा, उससे टक्कर लेनी पड़ेगी।

जिसके जीवन में व्रत, नियम, उद्देश्य, आदर्श नहीं वह मनुष्य नहीं। **'अव्रतो अमानुषः'।** जो अपना आदर्श व्यक्तित्व बनाना चाहता है वह सब नियम पालन करे। व्रती के लिये कुछ भी कठिन नहीं। अव्रती के लिये सब कुछ कठिन है। एक साधक का यम-नियम का पालन तो भली प्रकार अच्छी भावना के साथ होना ही चाहिये।

संकल्पों के आधार पर व्यक्ति महान् बनता है। बिना व्रत पालन के व्यक्ति अच्छा नहीं बन सकता। अन्तिम निर्णय यह निकलता है कि जो अच्छे काम का व्रत लिया है उसके लिये यदि मरना भी पड़े तो भी चिन्ता नहीं। सत्य का व्रत लिया और सत्य के कारण मृत्यु आ रही है तो झूठ बोलकर जीवन बचा लिया, तब सोचे कि क्या झूठ बोलने से मैं अमर हो

जाऊँगा ? क्या कभी मरूँगा नहीं ? जब अपनी बुद्धि से उभरा हुआ प्रश्न आता है तो दो विचारधाराओं की टक्कर होती है। अवसरवाद की और आदर्शवाद की। अवसरवादी जहाँ-जहाँ लाभ होता है झूठ बोलता है। आदर्शवादी इतने कम रह गये कि कोई लाखों में एकाध मिलिगा, शेष सब अवसरवादी। लाभ हो रहा हो तब तो सत्य बोलते रहना, पर हानि होती देखे तो असत्य बोल देना यह अवसरवाद है। यदि पति-पत्नी भी परस्पर झूठ बोलें तो उनका सदा के लिये एक दूसरे से विश्वास उठ जाता है। परन्तु सत्य बोलने वाले का विश्वास उसके शत्रु-विरोधी भी करते हैं। इस झूठ ने मनुष्य को मनुष्यपन से गिरा दिया-समाप्त कर दिया। लौकिक सुख और मोक्ष सुख दोनों सत्य से मिलते हैं झूठ पर चलने वाला कभी भी सुखी नहीं होता।

महात्मा सदा-मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं और दुरात्मा-मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् होता है।

नित्यानित्य-विचार व प्रलयावस्था-सम्पादन

आत्मा और शरीर के नित्य-अनित्य स्वरूप को जानने के लिए विवेक-विचार की प्रक्रिया अपनावें। बुद्धि में बैठाएँ कि यह शरीर नाशवान् है। व्यक्ति इसे नाशवान् मानता है या सदा रहनेवाला ? इसका निर्णय करके देखो, विचार करो और नित्य को नित्य तथा अनित्य को अनित्य निश्चयात्मक जानो। केवल शाब्दिक रूप से नहीं जानना है। दो और दो चार ही होते हैं इस के तुल्य दृढ निश्चयात्मक जानो कि यह शरीर अवश्य नष्ट होगा। कब होगा ? चाहे कभी भी किसी भी घटना से होगा, अवश्य ही। १०१ प्रकार से मृत्यु हो सकती है। हमने एक भवन बनाया, दो बनाये, ये सारे के सारे यहीं पड़ें रहेंगे। हमें जला दिया जायेगा। कुछ नहीं रहेगा। इस वास्तविक चिन्तन से व्यक्ति घबराया हुआ मिलेगा। न 'मैं' न 'मेरा' फिर भी नहीं मिलेगा। यह मेरा पुत्र विनय है। यह फिर कभी नहीं मिलेगा। लाखों करोड़ों वर्षों में भी नहीं। जो गया सो गया।

तुम्हारी इच्छा बनी है कि इस संसार के साथ खाते-पीते सदा जुड़े रहें। पर क्या यह सम्भव है ? कैसे सदा जीयेगा ? कोई है जो सदा जीयेगा ? यदि नहीं तो फिर व्यक्ति क्यों नहीं मानता कि मैं मरूँगा ? इसी का नाम तो है अनित्य को अनित्य और नित्य को नित्य समझना। शरीर को मार दिया गया, तो फिर क्या शरीर के परमाणु, आत्मा व ईश्वर भी नाशवान् पदार्थ हैं ? नहीं, ये तो सदा रहते हैं।

एक साधक – ''स्वामीजी ! यह तो हम भी जानते हैं।'' स्वामीजी ''यह शरीर नाशवान् है'' ऐसा आप लोगों का मानना अभी केवल शाब्दिक ज्ञान है। जब व्यक्ति इसे वास्तविक जानने लगता है तो उसका जीवन बदल जाता है, वह धर्म का पालन करने में पूरा पुरुषार्थ करता है, उसे सदा मुक्ति-प्राप्ति की लगन रहती है, उसकी संसार व संसार के भोगों से अरुचि हो जाती है। क्या आप अपने को इस स्तर पर पाते हैं ? जब साधक अनित्य को अनित्य जान लेता है तो फिर नित्य को नित्य भी जान लेता है। सत्य ज्ञान की विद्यमानता से असत्य ज्ञान का विनाश होता है।

जो वस्तु तोड़ने से टूट जाती है वह नाशवान् होती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नाशवान् होती है। शंका उभर सकती है कि शरीर की उत्पति तो देखी जाती है पर पृथ्वी की उत्पति नहीं देखी जाती है। इसका समाधान सुनें। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पृथ्वी का कोई भी भाग हीरा, पत्थर, मिट्टी आदि तोड़ने से टूट जाता है, जिस वस्तु का एक अंश टूट सकता है नष्ट हो सकता है वह वस्तु पूरी भी टूट सकती है नष्ट हो सकती है अतः पृथ्वी नाशवान् है। पृथ्वी नाशवान् है क्योंकि यह अनेक खण्डों से बनी हुई है। जो-जो वस्तु अनेक खण्डों से बनी हुई होती है वह-वह नाशवान् होती है, जैसे यह घड़ा। अतः अनेक खण्डों से बनी होने के कारण पृथ्वी भी नाशवान् है।

यदि किसी वस्तु को देखकर व्यक्ति जानना चाहता है कि यह नाशवान् है या नहीं ? तो उस वस्तु को अनन्त काल के सामने रखकर देखे। यह भूमि जिसकी सीमा नहीं दीखती वह अनन्त काल में कभी न कभी तो विनाश को प्राप्त होगी ही। फिर कभी न कभी यह बनी भी है। अनादि काल को सामने रखकर देखें कि कभी न कभी यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। जब साधक इस परिणाम पर पहुँचता है कि यह पृथ्वी उत्पन्न हुई और विनाश को प्राप्त होगी तो इसके परिज्ञान से उसने अनित्य पृथ्वी को अनित्य जाना। पर क्या यह पृथ्वी नष्ट होने पर नितान्त अभाव रूप में बदल जाती है या खण्डों में बदल जाने से परिवर्तित हो जाती है ? जो भावरूप है उसका अभाव कभी नहीं होता। छोटे-छोटे सूक्ष्म खण्डों में परिवर्तित हो जाना पृथ्वी का नाश है।

प्रत्येक शरीर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश को नाशवान् सिद्ध करें। यह शरीर नाश को प्राप्त होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच स्थूल भूतों में लीन हो

जाता है। ये स्थूल भूत तन्मात्राओं (सूक्ष्म भूतों में), तन्मात्राएँ अहंकार में और अहंकार महत्तत्त्व में लीन हो जाता है। फिर महत्तत्त्व विनाश को प्राप्त होकर सत्त्व-रज-तम (प्रकृति की साम्यावस्था) को प्राप्त हो जाता है। ये सत्त्व-रज-तम आगे विनाश को प्राप्त नहीं होते। जो सूक्ष्मतम कण कभी भी, किसी भी अवस्था में न टूटें उन्हें परमाणु भी कहा जाता है।

अहंकार अवयवी है, तन्मात्रा भी अवयवी है। जो-जो टूटते चले जाते हैं वे सब अवयवी कहलाते हैं। सत्त्व-रज-तम अवयव हैं, अवयवी नहीं। यह विवेक तत्त्वज्ञान कहलाता है। जो यह उत्पन्न संसार समझ में आया तो अनुत्पन्न प्रकृति (सत्त्व-रज-तम), जीव और ईश्वर भी समझ में आ सकते हैं।

जब व्यक्ति बौद्धिक स्तर पर संसार को प्रलयवत् बना देता है तो समाधि (योग) प्रारम्भ हो जाता है। नित्य को नित्य और अनित्य को अनित्य समझने पर प्रलयवत् अवस्था को बुद्धि में लाकर खड़ी कर लेता है तो चितवृत्ति-निरोध हो जाता है। चितवृत्ति-निरोध का होना समाधि (योग) कहलाता है।

आकृति, रूप, शब्द आदि को देख-सुनकर व्यक्ति की प्रवृत्ति फैलती है और जब इन सब को अपनी बुद्धि से प्रलय अवस्था में देखता है तो प्रवृत्ति समाप्त होती है। ''सत्त्व-रज-तम पड़े हुए हैं, जीवात्मा सुषुप्ति जैसी अवस्था में पड़े हुए हैं, ईश्वर नित्य-शुद्ध-बुद्ध अवस्था में रहता हुआ इन्हें ज्यों का त्यों देख रहा है''। तब साधक सारे संसार का परित्याग करता है व तब ईश्वर की उपासना करता है। व्याप्य संसार की प्रलयवत् अवस्था में व्यापक प्रभु को देखता है। युक्तिपूर्वक जैसे कुछ धागे जोड़ने से रुमाल बनता है ऐसे ही ईश्वर द्वारा बुद्धिपूर्वक परमाणु जोड़ने से संसार बनता है।

प्रकृति-आत्मा-परमात्मा का विवेक प्राप्त करके देखें। क्या मैं जीवन में खाता-पीता, चलता-फिरता ईश्वर को स्मरण रख पा रहा हूँ ? क्या मैं ईश्वर को सम्बोधित कर पा रहा हूँ ? ''हे ईश्वर ये हाथ-उँगलियाँ आपने बनाई।'' विचारते समय पक्षपात रहित हो अपने जीवन व्यवहार में देखें कि ये हैं या नहीं ? आप अपने को नारद मुनि की तरह मन्त्रवित् ही पायेंगे। आत्मवित् तो शोक को प्राप्त नहीं होता।

समाधि प्राप्त नहीं हो रही, ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं हो रहा तो यह निश्चय जानें कि ज्ञान (विवेक) व वैराग्य आपके ठीक नहीं हैं। व्यक्ति जब इस

प्रकार चिन्तन करके देखता है तो अपने को मौत के मुंह में पाता है। तब डरने लगता है और सोचता है कि अभी से ये क्यों विचारें ? इस डर-भय के कारण विचारना बन्द कर देता है । परन्तु विवेकी संसार को छान मारता है और उसका निष्कर्ष आता है कि मौत से बचने का कोई मार्ग नहीं है । मरना ही पड़ेगा । क्या करूँ ? प्रारम्भ में स्थिति को भुलाने के लिए अपने मित्रों-साथियों में जायेगा। खेलने, बैठने, बातचीत करने में लगेगा। यह सच्चाई से मुंह मोड़ना है । परन्तु सच्चाई-वास्तविकता से कहाँ तक मुंह मोड़ेगा ? अतः पुनः सोचने लगता है । धीरे-धीरे मौत की स्थिति में अपना दाह-संस्कार देखता है। जिनको अपना कहता था वे मेरे नहीं रहे, मैं उनका नहीं रहा। नाम और नामी का अभाव प्रतीत होने लगता है। फिर मृत्यु तक का डर जीत सकता है। बौद्धिक स्तर पर जब कोठी, धनादि सर्वस्व की आहुति देकर अकेला खड़ा रह पाता है तो मृत्यु तक को जीत लेता है।

आगे व्यक्ति सोचने लगा, मेरी हालत तो हो गई सो हो गई परन्तु क्या इन सब मनुष्यादि शरीरधारियों की स्थिति भी यही होगी ? अपने परिवार, पड़ोस, समाज, जगत्, पशु-पक्षियों आदि सब का विनाश अवश्यम्भावी है ? वर्तमान में विद्यमान शरीरधारियों को तो समाप्त कर दिया पर क्या ये संततियाँ यूं ही चलती रहेंगी या अनन्त काल में कभी न कभी, कभी न कभी समाप्त होंगी ? ऋषियों की यह बात "एक के पीछे एक सब समाप्त होंगे" अनुमान-प्रमाण से भी सिद्ध होगी।

आगे विचारता है कि जब यह बनना-बिगड़ना-बनना-बिगड़ना होता रहता है तो यह स्वतः बनता रहता है या किसी बनाने वाले से बनता है ? हम बना नहीं सकते और स्वतः कुछ बन नहीं सकता, अतः ईश्वर बनाता है यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार अरबों वर्षों के बाद होनेवाली प्रलय का क्षण वर्तमान में दिखाई देने लगता है । संसार प्रलयवत् दिखाई देता है तो शीघ्र समाधि प्राप्त होगी।

इच्छा-विघात से पीड़ित मानव

प्रश्न- इच्छाओं का विघात होने पर व्यक्ति दुःखी क्यों होता है ? तथा उस दुःख से कैसे बचा जाये ?

उत्तर- व्यक्ति मिथ्या अभिमान के कारण यह धारणा बना लेता है कि जो मैं चाहूँगा वह मेरी इच्छा पूर्ण हो जायेगी। किन्तु जब ऐसा नहीं होता तो व्यक्ति दुःखी होता है। हम मन में इच्छा करते हैं कि मेरा काम इस इस तरह

हो जाये। जितना चाहता हूँ उतनी मात्रा में व इस ढंग (विधि) से हो जाये। किन्तु ऐसे शत-प्रतिशत कभी किसी की इच्छा पूर्ण नहीं होती। भौतिक स्तर पर सब कामनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती । पर हाँ कामनाओं के संस्कार दग्धबीज किये जा सकते हैं।

दुःख से कैसे बचा जाये- व्यक्ति मनन व निदिध्यासन से इस निर्णय पर पहुँचे कि कोई किसी के पूरा अनुकूल नहीं रह सकता । हम भी किसी व्यक्ति के पूर्ण अनुकूल नहीं रहते हैं। पूर्ण अनुकूलता न होने में कारण हैं -

(१) प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है।

(२) व्यक्तियों के अपने विभिन्न संस्कार और योग्यताएँ होती हैं।

(३) व्यक्ति स्वार्थी, प्रमादी, आलसी आदि होता है।

(४) व्यक्ति का बौद्धिक स्तर गिरता और चढ़ता रहता है।

उपाय - हर समय यह मन में रखें कि घनिष्ट से घनिष्ट और निकट से निकट व्यक्ति वह चाहे मेरा पुत्र पत्नी आदि भी क्यों न हो जैसा मैं चाहता हूँ वैसा ही बोले, विचारे और वर्ताव करे यह सम्भव नहीं है। क्योंकि कर्त्ता तो कहते ही उसे हैं जो कर्तुम, अकर्तुम, अन्यथाकर्तुम् में स्वतन्त्र हो अर्थात् चाहे तो करे, न चाहे तो न करे या उल्टा करे। करने में स्वतन्त्र होने से कोई व्यक्ति हमारा विरोध भी कर सकता है । प्रत्येक व्यक्ति विचारने, बोलने, करने में स्वतन्त्र है। उस पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। ईश्वर की धर्माचरण की आज्ञा को नहीं चाहे तो नहीं माने, ऐसा स्वतन्त्र है।

व्यक्ति वर्षों अपना तन, मन, धन लगाकर खून-पसीना बहाकर सन्तान को योग्य बनाता है; परन्तु वही बड़ा होकर स्वेच्छा से रहे और अपना सहयोग न दे ऐसा हो सकता है। यदि व्यक्ति पहले से अपना मन बना ले कि हो सकता है मेरा पुत्र मेरी इच्छानुसार नहीं रहेगा, कुछ देने पर वापिस नहीं लौटायेगा। तो इस इच्छा के विघातरूपी दुःख से बच सकता है। भिन्न-भिन्न संस्कार और योग्यताओं के कारण व्यक्ति अपने पर किये गये उपकारों को भूल जाता है। मुझे ठीक समय पर सहयोग मिला था यह कृतज्ञता की भावना धार्मिक-संस्कार न होने के कारण भूल जाता है या भुला देता है। कोई व्यक्ति याद होते हुए भी आलस्य, प्रमाद व स्वार्थवश सहयोग नहीं देता ।

इच्छाओं का विघात हो तो विचारें कि मैं भी तो अपने माता-पिता, पत्नी-बच्चों के अनुकूल पूरा-पूरा नहीं चलता हूँ । अतः अन्य भी मेरे अनुकूल न चलें तो दुःखी क्यों बनूँ। इन तीन बातों पर विशेष ध्यान दें -

(१) इस मिथ्या मान्यता को अपने मन से दूर करें कि जैसा मैं हूँ वैसा ही लोग मुझे मानें, समझें और जानें। यह आवश्यक नहीं कि परोपकारी-दानी को कोई मान, यश, कीर्ति प्रदान ही करे। यदि अन्य की बुद्धि खराब है तो वह धार्मिक को अधार्मिक, परोपकारी को स्वार्थी भी कह सकता है। ऐसी धारणा बना ले कि मेरी निन्दा भी हो सकती है। ऐसा विचारने से दु:ख नहीं होगा।

(२) यह आशा रखना भी गलत है कि दूसरे व्यक्ति मेरे गुणों की प्रशंसा भले ही न करें किन्तु कम से कम झूठे आरोप तो न लगायें। यह धारणा रख कर चलें कि अच्छे का भी विरोध होता है।

(३) सहनशीलता रखना किसी दूसरे व्यक्ति से भूल होती है तो व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है, सहन नहीं कर सकता। प्रत्येक में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार अलग-अलग हैं। अत: जिनसे विचार सिद्धान्त कुछ नहीं मिलते उनसे सावधानीपूर्वक व्यवहार करें या उपेक्षावृत्ति से काम लें या सहन कर लें।

समस्याओं का मूल कारण हम स्वयं हैं। समस्त मानसिक विपदाओं का समाधान हो सकता है, परन्तु आधिभौतिक, आधिदैविक विपदाओं का समाधान पूर्ण नहीं हो सकता।

अद्वैतवाद - एक विवेचन

देश और विदेश में एक बहुत बड़े मत का प्रचलन है, जिसके अनुयायी लाखों की संख्या में हैं। उनकी मान्यता यह है कि केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता है, वही सत्य है और यह संसार मिथ्या है, इसकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार वे जीवात्मा की भी पृथक् नित्य सत्ता नहीं मानते। अपने पक्ष की पुष्टि में अनेक हेत्वाभास (खण्डित हो जाने वाला प्रमाण) प्रस्तुत करते हैं। इसी मान्यता पर हम कुछ विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं -

१. यदि ब्रह्म ही जीव बना है तो बताया जाये वह कब बना, क्यों बना और इसको सर्वप्रथम किसने जाना ? इसका कोई उत्तर नहीं। अत: जीव ब्रह्म के अद्वैत का विचार भ्रान्त है।

२. यदि मान लें कि ब्रह्म ही जीव बना है तो सारे प्राणियों के जीव ब्रह्म के टुकड़े मानने होंगे, इससे ब्रह्म अखंड व अटूट नहीं रहेगा।

३. इस प्रश्न का उत्तर भी नवीन वेदान्तियों को देना होगा कि ब्रह्म का कितना भाग अभी जीव नहीं बना और वह भाग कहाँ-कहाँ है ?

४. ब्रह्म का जो भाग अभी तक जीव नहीं बना, वह किसी कारण से नहीं बना और जो जीव बना है वह क्यों बना ? क्या जीव बना हुआ भाग दूसरे भाग से कमजोर है या दोषयुक्त है ? यदि है तो ब्रह्म को एक रस नहीं कह सकते। जिसकी अवस्था बदलती है अर्थात् जो कभी जीव बनता है कभी ब्रह्म वह भी एक रस नहीं हो सकता।

५. यह भी बताना होगा कि जीव के अन्दर ब्रह्म है या नहीं ? यदि कहें ब्रह्म सर्वव्यापक है अत: जीव के अन्दर भी है, तो प्रश्न उठेगा कि जब जीव स्वयं ब्रह्म ही है तो जीव के अन्दर व्यापक ब्रह्म कैसे माना जा सकता है ? यदी कहें कि जीव में ब्रह्म नहीं रहता, तो ईश्वर सर्वव्यापक नहीं रहा।

६. जिस वस्तु के अवयव (टुकड़े/अंश) हो सकते हैं वह उनके अवयवों से मिलकर बनी होती है। जिस ब्रह्म में से असंख्य जीव बन चुके व बन रहे हैं, तथा पुन: (ब्रह्म में ही) विलीन भी हो रहे हैं वह स्वयं भी केवल जीवों का संग्रह ही मानना होगा, ब्रह्म के रूप में उसका पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता। सावयव होने से ब्रह्म के अनित्य होने का दोष भी आयेगा।

७. ब्रह्म का स्वाभाविक गुण ज्ञान है और स्वाभाविक गुण का कभी नाश नहीं होता। तब कैसे सम्भव है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म कभी अज्ञानी हो जावे ?

८. अविद्या वा माया क्या वस्तु है ? वह कहाँ रहती थी ? और कब उसने ब्रह्म को पकड़ कर पहले ईश्वर और फिर जीव को बनाया ?

९. ब्रह्म और अविद्या के (माया के) मेल से जीव बनता है तो क्या वह अविद्या या माया से दुर्बल है ? क्या सर्वशक्तिमान को कोई अन्य शक्ति दबा सकती है ? क्या सर्वज्ञ में अविद्या रह सकती है ?

१०. जिस अविद्या वा माया ने ब्रह्म को जीव बनाकर अपने अधीन किया, क्या वह ब्रह्म को रोक नहीं सकती कि जीवों को कर्मफल के रूप में दु:ख न देवे ?

११. ब्रह्म या ईश्वर जो जीवों को कर्म फल दे रहा है, वह किस अधिकार से देता है ? क्या कोई राजा या न्यायाधीश स्वयं ही दोषी या चोर बनकर अपने विरुद्ध साक्षियाँ लाता व अपने आपको दण्ड देता देखा जाता है ?

१२. क्या सम्भव है कि मनुष्य अपने आपको काटकर वा किसी अन्य से काटा जाकर जीवित रहे और कटे हुए भाग से काम ले वा उस पर शासन करे ? कदापि नहीं । तब परमेश्वर किस प्रकार खंड-खंड रहकर जीवित रह सकता वा जीवों पर अधिकार पा सकता है ?

१३. जब सब ब्रह्म ही ब्रह्म है तो प्रकृति या जड़ पदार्थ कहाँ से आ गये ? ब्रह्मा या ईश्वर को अविद्या ने जीव बनाया है तो जड़ पदार्थ भी ब्रह्म से ही बने हैं या और किसी के मेल से ? यदि कहो कि प्रकृति ब्रह्म से नहीं बनी तो मानना होगा कि ब्रह्म से अतिरिक्ति अन्य कोई वस्तु भी अनादि है और जब प्रकृति को भी अनादि माना तो जीव को अनादि मानने में क्या रुकावट है ?

१४. यह कहना भी निरर्थक है कि – ''चूंकि जगत् स्वप्न की तरह मिथ्या है अत: जीव भी मिथ्या है।'' कारण कि यह विचार केवल कल्पनाओं पर लागू हो सकता है। कहने को यह भी कल्पना हो सकती है कि जैसे स्वप्न की बात व जगत् मिथ्या है वैसे ही ब्रह्म को मानना भी असत्य हो, ऐसे ही नवीन वेदान्ती जो अपने आपको ब्रह्म मानते हैं यह भी अज्ञान हो । तब मात्र अज्ञान ही रहेगा अन्य कुछ नहीं, ब्रह्म भी नहीं ।

१५. यदि सर्प वास्तव में न हो तो रज्जु में सर्प की कल्पना (भ्रम) भी नहीं हो सकती। रज्जु में सर्प नहीं, पर सर्प में सर्प अवश्य होता है। इसी प्रकार जगत् व जीव भी भ्रान्ति मात्र नहीं । प्रत्येक वस्तु जिसके संबन्ध में कुछ भी कल्पना की जा रही हैं वह अपने यथार्थ स्थान पर सत्य अवश्य है। अत: जीव तथा जगत् किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं है।

१६. जन्म से अन्धे को कभी रूप का स्वप्न नहीं आता और जो वस्तु कभी देखी या सुनी न हो वह भी कभी स्वप्न में नहीं आती। इससे सिद्ध है कि यदि जीव न होता तो ब्रह्म को जीव होने का ख्याल भी कदापि न आता। जीव की स्वतन्त्र सत्ता माने बिना ब्रह्म को जीव मान लेना भी नहीं हो सकता।

१७. ब्रह्म जिस अज्ञान से जीव बना है, वह अज्ञान सारे ब्रह्म को अज्ञानी क्यों नहीं करता ? क्यों ब्रह्म के कुछ (किन्हीं) अंशो को ही ग्रसित करता है ?

१८. घटाकाश, मठाकाश का उदाहरण देकर बताया जाता है कि घट और मठ की उपाधि से आकाश पृथक्-पृथक् दिखाई देता है अन्यथा सब आकाश एक ही है। ऐसे ही सब कुछ ब्रह्म है, जीव अविद्या से प्रतीत हो रहा है। ऐसी युक्तियाँ निरर्थक हैं। कारण कि आकाश वास्तव में विभक्त नहीं होता और न घट और मठ का आकाश पृथक् – पृथक् है, पर जीव तथा ब्रह्म तो स्पष्टतया पृथक् माने जा रहे हैं। ब्रह्म व्यापक है, जीव एकदेशी, ब्रह्म कर्मफलदाता है ,जीव कर्मकर्ता व कर्म फल भोक्ता इत्यादि। अत: इस दृष्टान्त की जीव-ब्रह्म के साथ समानता नहीं है।

१९. घटाकाश और मठाकाश की उपाधि वाला दृष्टान्त तो स्वयं नवीन वेदान्तियों के विरुद्ध जाता है क्योंकि घट और मठ आकाश से पृथक् हैं । जैसे आकाश से भिन्न घट – मठ को स्वीकार करने पर ही घटाकाश – मठाकाश बनते हैं वैसे ही ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी (अविद्या) की सत्ता मानने पर ही जीव माना जा सकेगा ऐसे में केवल ब्रह्म ही है यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है।

२०. यह कहना कि ''ब्रह्म ही उपाधि से ईश्वर व जीव बनता है,'' असत्य है। जब ब्रह्म के बिना कुछ है ही नहीं तो उपाधि कहाँ से आ गई ? जब साधारण सा ज्ञानी मनुष्य उपाधि, व्याधि से बचकर सुखपूर्वक रह सकता है, तो ज्ञान स्वरूप, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म उपाधि का शिकार हो जावे, यह कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२१. यह कहना कि ''उपाधि=अविद्या=माया का सम्बन्ध टूटने पर अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और जीव फिर ब्रह्म हो जाता है,'' सत्य नहीं है। इससे तो जीव, ब्रह्म से अधिक ज्ञानी और शक्तिशाली सिद्ध होता है। ब्रह्म को तो उपाधि ने नीचा दिखाया, पर जीव ने उस उपाधि को बन्धन को तोड़ दिखाया।

२२. जीव को ब्रह्म मानें तो चोरी, व्यभिचार आदि सब पापों को करने वाला ब्रह्म ठहरता है।

२३. उपाधि के विषय में यह कहा जाता है कि ''यह अनिर्वचनीय है'' अर्थात् यह ज्ञान वाली है या अज्ञानी वाली कुछ कहा नहीं जा सकता।

परन्तु ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को अज्ञानी बनाने वाली उपाधि के अज्ञानयुक्त होने में क्या संदेह हो सकता है। उपाधि को अनिर्वचनीय बताना ही इस बात का प्रमाण है कि नवीन वेदान्तियों को अपने मन्तव्यों की सत्यता पर स्वयं विश्वास नहीं।

२४. यह कहना कि "ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण पर पड़ता है, जिसे चिदाभास कहते हैं, यही जीव है" सर्वथा असत्य है। प्रतिबिम्ब पड़ता है दूसरी वस्तु पर और नवीन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म के बिना दूसरी वस्तु है ही नहीं, तो प्रतिबिम्ब पड़ा किस पर? प्रतिबिम्ब जहाँ पड़ता है वहाँ वह वस्तु नहीं होती, इससे ब्रह्म के सर्वव्यापक न होने का दोष भी आयेगा।

२५. प्रतिबिम्ब पड़ता है साकार वस्तु का। पर ब्रह्म तो निराकार है उसका कोई रूप या आकार नहीं है, तो उसका प्रतिबिम्ब कैसा?

२६. प्रतिबिम्ब पड़ता है फासले वाली चीज पर, परन्तु ब्रह्म सब में व्यापक है, कोई भी वस्तु उससे दूर नहीं, तब उसका प्रतिबिम्ब कैसा?

२७. अन्तःकरण के मेल से ब्रह्म का जीव बनता है ऐसी स्थिति में तो जहाँ-जहाँ अन्तःकरण जायेगा वहाँ-वहाँ का ब्रह्म जीव बनता जायेगा तथा पूर्व स्थान पर जहाँ जीव था वह ब्रह्म होता जायेगा। कभी जीव ब्रह्म बन जायेगा तो कभी ब्रह्म जीव बन जायेगा इस प्रकार सब क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहेगा। कर्म को करने वाला ब्रह्म/जीव भिन्न होगा व फल को भोगने वाला ब्रह्म / जीव भिन्न होगा। ऐसे में कर्मफल व्यवस्था व्यर्थ हो जायेगी, अन्याय का दोष भी आयेगा। करे कोई अन्य व भोगे कोई अन्य।

२८. यह कैसे हो जाता है कि जड़ अन्तःकरण ब्रह्म को जीव बना ले तथा वह स्वयं अविद्या से ग्रसित हो जावे?

२९. अद्वैतवाद में किसी जीव पर विश्वास नहीं हो सकता कि वह कब तक जीव है। सम्भव है उसे अभी अन्तःकरण छोड़ दे और वह ब्रह्म बन जाये। ऐसी अवस्था में तो किसी राजा को किसी भी नीच से नीच अपराधी को दण्ड भी नहीं देना चाहिए क्योंकि यदि अन्तःकरण ने उसे छोड़ दिया तो वही विशुद्ध ब्रह्म बन जायेगा।

३०. अन्तःकरण के संयोग तथा वियोग से प्रत्येक क्षण ब्रह्म ज्ञानी तथा अज्ञानी बनता रहेगा। ऐसी स्थिति में तो ब्रह्म अखण्ड, एकरस, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् नहीं रहेगा।

३१. एक स्थान पर अन्तःकरण के मेल से ब्रह्म 'जीव' बनता है और उसी अन्तःकरण के दूसरे स्थान पर चले जाने से पूर्व जीव 'ब्रह्म' बन जायेगा तो ऐसी अवस्था में पूर्व स्थान में की गई बातों का स्मरण नहीं रहना चाहिए, किन्तु ऐसा तो देखने में नहीं आता। प्रत्येक मनुष्य को अपने बाल्यावस्था तक की अनेक बातें स्मरण रहती हैं। अन्तःकरण तो जड़ है, जड़ कभी स्मरण नहीं रखता, स्मरण तो चेतन ही रखेगा। और चेतन बार-बार बदल रहा है तो एक के अनुभव का दूसरे को स्मरण कैसे होगा?

३२. यदि ब्रह्म ही जीव बना है तो जीव को भी सर्वत्र सर्वशक्तिमान् होना चाहिए, क्योंकि स्वाभाविक गुणों का कभी नाश नहीं होता।

३३. कहा जाता है कि चेतन होने से जीव तथा ब्रह्म एक हैं, दो पृथक्-पृथक् नहीं हैं। परन्तु केवल एक गुण समान होने से दो पदार्थ एक नहीं माने जा सकते। जैसे भार वाला होने से अमरूद व सेब एक नहीं हो जाते। जीव तथा ब्रह्म के अनेक गुण परस्पर भिन्न भी हैं जैसे जीव एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् है किन्तु ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। मात्र एक या कुछ गुणों की समानता से दोनों को एक मान लेना अविद्या (अज्ञान) है।

३४. यह अविद्या ऐसी बात लगती है कि स्त्री भी ब्रह्म और पुरुष भी ब्रह्म, रोटी भी ब्रह्म और मल भी ब्रह्म, चोर भी ब्रह्म और पुलिस भी ब्रह्म। ऐसी अवस्था में तो धर्माधर्म, सुख-दुःख आदि की विवेचना भी नहीं हो सकती। पेड़ा भी ब्रह्म गोबर भी ब्रह्म, तो फिर पेड़ा मुख में पड़ें तो निगलते क्यों और गोबर पड़े तो थूकते क्यों हैं?

उपरोक्त विवेचना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म तथा जीव को और तीसरी प्रकृति को एक मानना सर्वथा मिथ्या है, मिथ्या बातों को मानना श्रेयस्कर नहीं होता। अतः इस मान्यता को नितान्त त्याग देना चाहिए।

कुछ चुने हुए भजन

ईश्वर से संग जोड़

ईश्वर से संग जोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ।
विषयों से मुख मोड़ मानव, विषयों से मुख मोड़ ॥
प्रात: सायं सन्ध्या करले, वेदज्ञान जीवन में भर ले ।
शुभ कर्मों को न छोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ १ ॥
जिस से मानव पाप कमाता, जन्म-मरण बन्धन में आता ।
उस बाधक को तोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ २ ॥
केवल धन संचय में रहना, विषय भोग सागर में बहना ।
यह अन्धों की दौड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ ३ ॥
बिन ईश्वर के जाने माने, दूध और पानी के न छाने ।
वृथा यत्न करोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ ४ ॥
अविद्या का नाश किया कर, सदा ईश संग वास किया कर ।
छोड़ जगत की होड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ ५ ॥
उद्यम करले छोड़ उदासी, जन्म-जन्म की पाप की राशि ।
पाप-कलश को फोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ ६ ॥
क्यों फिरता है तू मारा मारा, ईश्वर का ले पकड़ सहारा ।
यह है एक निचोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ ७ ॥
अब भी जो तू चेत न पाया, तो फिर तुझ को यह जग माया ।
देगी तोड़ मरोड़ मानव, ईश्वर से संग जोड़ ॥ ८ ॥

क्या खोया क्या पाया

क्या खोया क्या पाया जग में क्या खोया क्या पाया ।
हाथ बढ़ाया पुष्पलता को कंटक ने डस खाया ॥ १ ॥ जग में
सुन्दर कोमल गात देखकर नर फूला नहीं समाया ।
जरा व्याधि वेग लगा तब बह गई सुन्दर काया ॥ २ ॥ जग में
सुख के सपने रैन में देखें जागे कष्ट उठाया ।
मृग मरीचिका सम हम भागे माया ने भरमाया ॥ ३ ॥ जग में
सुख के खातिर उड़े वायु में गगन में भवन बनाया ।
टूटे पंख गिरे पृथ्वी पर मिली न सुख की छाया ॥ ४ ॥ जग में

मूर्ख मन चञ्चल नहीं माने बार-बार समझाया ।
इस असार संसार में रह के कह किसने सुख पाया ॥ ५ ॥ जग में
मानव देह मिली दुर्लभ है कश्यप क्यों भरमाया ।
ओ३म् भक्ति बिनु सार नहीं है वेदों ने बतलाया ॥ ६ ॥ जग में

दो आत्मबल हे दयानिधे

दो आत्मबल हे दयानिधे, मैं सत्य सुधा का पान करूँ ।
यह जीवन धन्य बनाने को, मैं हेय-हान समाधान करूँ ॥
हिंसा, छल, कपट, चोरी अरु राग द्वेष को मारूँ मैं,
ब्रह्मचर्य, तप, अपरिग्रह से, अपना भविष्य सुधारूँ मैं ।
हो अन्त:करण पवित्र मेरा, मैं ईश्वर-प्रणिधान करूँ ॥ दो आत्मबल..
वेदादिशास्त्रों पर मेरा, सदा अटल विश्वास रहे,
भ्रम रोग की अचूक दवा, संग में सत्यार्थप्रकाश रहे ।
मन इन्द्रियों पर रहे नियन्त्रण, दैनिक प्राणायाम करूँ ॥ दो आत्मबल...
परमस्नेही, सगे सम्बन्धी, संयोग मिले का नाता है ,
जीव जगत में आया अकेला, अन्त अकेला जाता है ।
रंग रूप और धन यौवन का ना झूठा अभिमान करूँ ॥ दो आत्मबल...
अंधकार में रहा भटकता, आनन्दलोक दिखा देना,
जिस कारण 'आर्य' बन पाऊँ, वह वेद की विधि बता देना ।
दो शुद्ध ज्ञान, करूँ शुद्ध काम, जन सेवा दयानिधान करूँ ॥ दो आत्मबल...
हे सत्यपते, तुम ज्ञानमते, विवेकशील व्रतधारी हो,
ज्योतिर्मय, भयभंजक हो, सुखदायक हो गुणकारी हो ।
दो वरदान विशोका का, मैं क्रियायोग अनुष्ठान करूँ ॥ दो आत्मबल...

जगत में चिन्ता मिटी है उनकी

जगत में चिन्ता मिटी है उनकी, शरण में तेरी जो आ गये हैं ।
वे ही जहाँ में हरे भरे हैं, शरण में तेरी जो आ गये हैं ॥
न पाया तुझ को अमीर बन के,
न पाया तुझ को फकीर बन के ।
उन्हीं को तेरे हुए हैं दर्शन, शरण में तेरी जो आ गये हैं ॥ जगत् में...
न देखा तुझ को किसी ने बल से,
न देखा तुझ को किसी ने छल से ।
उन्हीं को तेरे हुए हैं दर्शन, शरण में तेरी जो आ गये हैं ॥ जगत् में...

जो तेरे दर के बने भिखारी,
लगन जिन्हें है बस एक तुम्हारी ।
वे ही परम पद को पा गये हैं, शरण में तेरी जो आ गये हैं ॥ जगत् में...
न देखा तुझ को है मन्दिरों में,
न देखा तुझको, है मस्जिदों में ।
मन मन्दिर में हुए हैं दर्शन, शरण में तेरी जो आ गये हैं ॥ जगत् में..
हजारों मजहब हजारों फ़िरके,
रचा के आपस में लड़ते फिरते ।
मगर वे ही शान्तचित्त हैं मिलते, शरण में तेरी जो आ गये हैं ॥ जगत् में.

समर्पण - प्रार्थना

हे विभो आनन्द सिन्धो, मे च मेधा दीयताम् ।
यच्च दुरितं दीनबन्धो, तच्च दूरं नीयताम् ॥ हे विभो...
चञ्चलानि चेन्द्रियाणि मानसं मे पूयताम् ॥
शरणं याचे तावकोऽहं, सेवकोऽनुगृह्यताम् ॥ हे विभो...
त्वयि च वीर्यं विद्यते यत् तच्च मयि निधीयताम् ।
या च दुर्गुण दीनता मयि, सा तु शीघ्रं क्षीयताम् ॥ हे विभो...
शौर्यं धैर्यं तैजसं च, भारते चेक्रीयताम् ।
हे दयामय अयि अनादे, प्रार्थना मम श्रूयताम् ॥ हे विभो...

प्रभु प्यारे से

प्रभु प्यारे से जिसका सम्बन्ध है,
उसको हरदम आनन्द ही आनन्द है ।
झूठी ममता से करके किनारा,
ले के सच्चे प्रभु का सहारा ।
जो उसकी रजा में रजामन्द है - उसको हरदम ...
जिसकी कथनी में कोयल सी चहक है,
जिसकी करनी में फूलों सी महक है ।
प्रेम नरमी ही जिसकी सुगन्ध है - उसको हरदम ...
निन्दा चुगली न जिसको सुहावे,
बुरी संगत की रंगत न भावे ।
सत्संग ही जिसको पसन्द है - उसको हरदम ...

दीन दुखियों का दुःख जो मिटावे,
बन के सेवक भला सब का चाहे ।
नहीं जिसमें घमण्ड और पाखण्ड है - उसको हरदम

न तेरा मुकाम पाया

नहीं आज तक किसी ने तेरा मुकाम पाया,
हर जगा पै जाके देखा तू कहीं नजर न आया ।
ये चान्द और सितारे हरदम ये कह रहे हैं,
हर शय में तेरा जलवा हर दिल में तू समाया - नहीं आज...
जो दर पर तेरे पहुँचा चमका वो आसमाँ पर,
जिसने किया तक्कबर वह खाक में मिलाया - नहीं आज...
जब सिर पर हो मुसीबत चलता है फिर पता यह,
जग में है कौन अपना और कौन है पराया - नहीं आज...
उस हाल में रहें हम जिसमें तेरी रजा है,
होकर रहा 'पथिक' वह जो भी है तुझ को भाया-नहीं आज...

किस का मैं पकडुँ सहारा

और किसका मैं पकडुँ सहारा, स्वामी तेरे सिवा कोई नहीं है ।
जिन्दगी को मैं खोता रहा यूँ, गफलत में मैं सोता रहा यूँ ।
कितनी गुजरी हैं दिन और रातें, नींद आँखों से धोई नहीं है ।-और किसका ...
ठुकराया हूँ सारे जहाँ का, अब मैं यहाँ का रहा न वहाँ का ।
अब तो जिन्दगी है तेरे हवाले, तेरे दर का भिखारी यही है ।-और किसका...
तुझ सा दानी नहीं है जहाँ में, मांगने को फिर जाऊँ कहाँ मैं ।
जिसने पकड़ा है दामन तुम्हारा, उसकी किस्मत फिर सोई नहीं है ।-और किसका ...
दे दो थोड़ा अनिल को सहारा, इसको भी मिल जायेगा किनारा ।
सौंप दी जिसने तुम को सफीना, वह तुमने डुबोई नहीं है ।-और किसका...

दिव्य दर्शन

तुम्हारे दिव्य दर्शन की मैं इच्छा ले के आया हूँ ।
पिला दो प्रेम का अमृत पिपासा लेके आया हूँ ॥
रतन अनमोल लाने वाले लाते, भेंट को तेरी । -वे लाते...
मैं केवल आँसुओं की मञ्जु माला लेके आया हूँ ॥ तुम्हारे ...

जगत के रंग सब फीके, तू अपने रंग में रंग दे। - तू अपने...
मैं अपना यह महा बदरंग बाना लेके आया हूँ॥ तुम्हारे ...
'प्रकाशानन्द' हो जाये मेरी अन्धेरी कुटिया में। मेरी अन्धेरी...
तुम्हारा आसरा विश्वास आशा लेके आया हूँ॥ - तुम्हारे ...

रे बता दे कोई

रे बता दे कोई कहाँ गई तरुणाई, रे बता दे कोई कहाँ गई तरुणाई
गई गई, बस गई लौटकर फिर न कभी वह आई। रे बता दे कोई
जिसकी रक्षा के हित खाई मेवा और मिठाई, हाँ हाँ मेवा और मिठाई
दूध दही घृत मक्खन खाया, हलवा खीर मलाई। रे बता दे कोई
पिस्ता और बादाम छुहारे, ढेरों किशमिश खाई, हाँ हाँ ढेरों किशमिश खाई
लड्डु पेड़ा और इमरती, बरफी बालुशाही। रे बता दे कोई
रसगुल्ले, रसबड़े आदि पर जिसकी रही चढ़ाई हाँ हाँ जिसकी रही चढ़ाई
उस बेवफा आयु ने मुड़कर सूरत नहीं दिखाई। रे बता के कोई
चली गई चुपचाप तोड़कर ममता मोह मिताई, हाँ हाँ ममता मोह मिताई
उसे ढूँढ़ते कमर झुक गई फिर भी थांग न पाई। रे बता दे कोई
ऊँचे ऊँचे पर्वत लांघे, नीची नदियाँ खाई, हाँ हाँ नीची नदियाँ खाई
अब दस अँगुल नीचा ऊँचा देख बुद्धि चकराई। रे बता दे कोई
कान न सुने, आँख नहीं देखे, पैर चले लँगड़ाई, हाँ हाँ पैर चले लँगड़ाई
तन में रोग समूह समायो, मन में भूल समाई। रे बता दे कोई
रे नवयुवकों बात हमारी सुनो कान धर भाई, हाँ हाँ सुनो कान धर भाई
यह तरुणाई धोखा देगी तज कर स्नेह सगाई। रे बता दे कोइ
इसके जाने से पहले, कुछ करलो अमर कमाई, हाँ हाँ करलो अमर कमाई
जितना लाभ ले सको ले लो, फिर न उठेगी पाई। रे बता दे कोई

ओ३म् सुख कन्द से

ओ३म् सुखकन्द से सच्चिदानन्द से याचना है,
श्रेय पथ पर चलूँ कामना है। कृत कुकर्मों की जब याद जाती,
आंखें हैं अश्रुधारा बहाती, मन में संताप की, घोर अनुताप की वेदना है। श्रेय...
पाया नर तन न पर साधना की, कुछ भी न ईश आराधना की,
मन में तृष्णा भरी, काम मद लोभ की वासना है। - श्रेय...
भक्तजन की सुनो करुण कविता, विश्व दुरितों की हे देव सविता,
दूर कर दीजिए, भद्र भर दीजिए भावना है। - श्रेय...

स्वस्तिपन्थामनु चरेम मघवन्, सूर्य अरु चन्द्र के तुल्य भगवन्,
दान दूँ, ज्ञान लूँ अघ्नता बन रहूँ प्रार्थना है। - श्रेय...
ले चलो सत्य पथ पर सर्वज्ञाता, कुटिल अघ से चलूँ सर नवाता,
मुझ को दो आत्मबल जिससे होवे सफल साधना है। - श्रेय...

बिन आत्मज्ञान के दुनियाँ में

बिन आत्मज्ञान के दुनियाँ में, इन्सान भटकते देखे हैं।
आम बशर की तो बात ही क्या, सुलतान भटकते देखे हैं॥
जो सबरों सकूँ की दौलत है, मिलती है आत्मज्ञानी को।
तसकीन के तो देखा है, धनवान भटकते देखे हैं॥
सब ज्ञान तो उसने सीख लिया, पर आत्मज्ञान ही सीखा ना।
यह कारण है कि पण्डित भी, अनजान भटकते देखे हैं॥
जो भटकाते दुनियाँ को, वे आप भटकते देखे हैं।
गुणवान भटकते देखे हैं, साइन्सदान भटकते देखे हैं॥
जिस महफिल में देखा है, हर एक को भटका पाया है।
हर मेम्बर की तो बात ही क्या, प्रधान भटकते देखे हैं॥
जो आत्म ज्ञानी होता है, बलवान है सारी दुनियाँ में।
वैसे तो पथिक इस दुनियाँ में, बलवान भटकते देखे हैं॥
अज्ञान के कारण देह धारी, मानव को ही ईश्वर मान लिया।
अब जाने माने लोगों के, भगवान भटकते देखे हैं॥

तेरे नाम का सुमिरन

तेरे नाम का सुमिरन करके, मेरे मन में सुख भर आया।
तेरी कृपा को मैंने पाया, तेरी दया को मैंने पाया॥
दुनियाँ की ठोकर खाकर, जब मैं हुआ बेसहारा।
न पाकर अपना कोई, जब मैंने तुम्हें पुकारा।
हे नाथ मेरे सिर ऊपर तूने अमृत बरसाया॥ १॥
तू संग में था नित मेरे, ये नैना देख न पाए।
चंचल माया के रंग में, ये नैन रहे लिपटाए।
मैं जितनी बार गिरा हूँ, तूने पग-पग मुझे उठाया॥ २॥
भवसागर की लहरों में, भटकी जब मेरी नैया।
तट छूना भी मुश्किल था, नहीं दीखे कोई खिवैया।
तू लहर बना सागर की, मेरी नाव किनारे लाया॥ ३॥

हर तरफ तुम्हीं हो मेरे, हर तरफ तेरा उजियारा ।
निर्लेप प्रभुजी मेरे, सब जगत् तुम्हीं ने धारा ।
तेरी शरण में आकर दाता, तेरा तुझ ही को चढ़ाया ॥ ४ ॥

जाग गए अब सोना क्या रे

जाग गए अब सोना क्या रे
जो नर तन देवन को दुर्लभ, सो पाया अब रोना क्या रे ॥
हीरा हाथ अमोलक आया, काँच भाव से खोना क्या रे ॥
मन मन्दिर को नहीं किया निर्मल, बाहर का तन धोना क्या रे ॥
जब वैराग्य ज्ञान घिर आया, तब चाँदी अरु सोना क्या रे ॥
दारा सुतन भुवन में घिर कर, भार सभी का ढोना क्या रे ॥
ईश्वर से कर नेह बावरे, अन्त समय फिर रोना क्या रे ॥
ओ३म् नाम का सुमिरन करले, अन्त समय में होना क्या रे ॥

हे प्रभो हम तुमसे

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ (ऋग्वेद-९/६३/५)

हे प्रभो हम तुमसे वर पाएँ ।
सकल जगत् को आर्य बनाएँ ॥
फैलें सुख-सम्पत्ति फैलाएँ ।
आप बढ़ें तव राज्य बढ़ाएँ ॥ हे प्रभो ...
राग-द्वेष को दूर भगाएँ ।
प्रीति-नीति की रीति चलाएँ ॥ हे प्रभो ...

परमात्मा के सभी गीत गाओ

परमात्मा के सभी गीत गाओ; तो आवागमन से सभी छूट जाओ ।
वह दुःखियों का हमदर्द अकेलों का साथी;
श्रुति जगदाधार है उसको बताती ॥
अजर है अमर है शरण उसकी आओ; तो आवागमन ...
है गागर में सागर भरा वेद वाणी,
चहुँ ऋषियों द्वारा गई जो बखानी
उसी दीप से मन का दीपक जलाओ । जो आवागमन...

वह आनन्द घन है सफल दुःख हरैया;
पिता माता वही है सखा और भैया,
उसी से करो प्रीत प्रीतम बनाओ; तो आवागमन...
हैं योगी समाधि में जिसको पुकारें,
जमाने के वैभव की चाहना विसारें ।
उसी में लगन सब तुम भी लगाओ, तो आवागमन...

शान्ति - गीत

शान्ति कीजिये प्रभु त्रिभुवन में ।
जल में थल में और गगन मे, अन्तरिक्ष में अग्नि पवन में ।
औषधि वनस्पति वन उपवन में, सकल विश्व में जड़ चेतन में ॥
शान्ति कीजिये प्रभु त्रिभुवन में ।
ब्राह्मण के उपदेश वचन में, क्षत्रिय के द्वारा हो रण में ।
वैश्य जनों के होवें धन में, और सेवक के हो चरणन में ॥
शान्ति कीजिये प्रभु त्रिभुवन में ।
शान्ति राष्ट्र निर्माण सृजन में, नगर ग्राम में और भवन में ।
जीव मात्र के तन में मन में, और जगत के हो कण कण में ॥
शान्ति कीजिये प्रभु त्रिभुवन में ।

शान्ति-पाठ

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्ति रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्ति रेधि ॥

✦ ✦ ✦

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भागभवेत् ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पाठकों के हृदय उद्गार

आदरणीय आर्य रणसिंह जी यादव,

सादर नमस्ते । आप द्वारा संकलित **'ब्रह्म विज्ञान'** ग्रन्थ मैंने उदयपुर में खरीदकर पढ़ा दुबारा, तिबारा व और पढूंगा । आपने यह ग्रन्थ संकलन कर प्रकाशित करवा कर महर्षि का ऋण उतारा है और वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार किया है । मेरा विचार है कि **'ब्रह्म-विज्ञान'** की सौ प्रतियों का एक चलता फिरता पुस्तकालय बनाऊं और प्रबुद्ध सज्जनों की सेवा में प्रति सप्ताह तक यह ग्रन्थ फ्री में स्वाध्याय करने दूँ । दूसरे सप्ताह उनके ही पास पड़ोस के अन्य प्रबुद्ध सज्जनों को बांटू । इस तरह प्रति माह रायपुर शहर के ४०० बन्धुओं की सेवा में वैदिक स्वाध्याय का घर बैठे प्रबन्ध करूं । मैने चाहा है कि रायपुर नगर से दैनिक समाचार पत्रों की लगभग दो लाख प्रतियां प्रतिदिन प्रकाशित होती हैं । मैं **''ब्रह्म विज्ञान''** की प्रतियां प्रत्येक पत्र के सम्पादक महोदयों की सेवार्थ भेंट करूंगा तथा अगर वे चाहें कि इस महाज्ञान को आम जनता के कल्याण, हित प्रचारार्थ कुछ २ अंशों को साप्ताहिक दिन के विशेष अंक में प्रकाशित करे तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी ? कारण इससे आम जनता का वैदिक ज्ञान के प्रचार से बहुत भला होगा ।

आपका कृपा पात्र - **बन्शीलाल उपाध्याय**

रायपुर १३-३-९७ दीक्षित भवन, के . के . रोड, रायपुर (म.प्र.) ४९२००१

✦ ✦ ✦

''विविध दु:खों से अत्यन्त निवृति के लिये योग के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है । इसलिए दु:खों से छुटने के लिये सभी मनुष्यों को योग मार्ग का अनुसरण करना चाहिए । उस योग मार्ग के अनुसरण के लिए श्री रणसिंह यादव जी ने प्रयास किया है । वह प्रयास संकलन रूप से मनुष्यों के सम्मुख **'ब्रह्म विज्ञान'** नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत है । इस संकलन को मैंने देखा है । इस विषय के रसास्वाद में आसक्त जन ही इस आनन्द का अनुभव तथा अभिव्यक्ति कर सकते हैं । फिर भी इस संकलन से न केवल अध्यात्मतृषा से व्यथितों को ही शान्ति मिलेगी, किन्तु आधिभौतिकों के लाभ के लिये भी यत्र तत्र सर्वत्र उपदेश हैं । अधिक पढ़े हुए सभी के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा यह संकलन सुखकारी हो ।''

दि. १८-१२-९४ **सरलमित्र शर्मा 'व्याकरणाचार्य'**

टींबावाडी, जूनागढ़

✦ ✦ ✦

परम श्रद्धेय आर्य रणसिंह जी,

सादर नमस्ते । आपके द्वारा संकलित एवं प्रकाशित **''ब्रह्म विज्ञान''** का अध्ययन करने पर मैंने यह महसूस किया कि पुस्तक मानव के सर्वाङ्गीण विकास में

पूर्णतया साधक है, तथा मानव के चरम लक्ष्य-ईश्वर प्राप्ति-मुक्ति आनन्द को ज्ञानपूर्वक प्राप्त कराने में समर्थ है । इस पुस्तक के अध्ययन से मैं प्रकृति-जीव-ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जान पाया हूँ । इस पुस्तक में मानव जीवन की प्रत्येक समस्या का निराकरण बड़े ही सरल व सुन्दर ढंग से श्रुति व स्मृति द्वारा प्रमाणित कर किया गया है । इसके लिये मैं ही नहीं अपितु सभी पाठक गण आपका आभार प्रकट करने में असमर्थ ही रहेंगे ।

आपका - **रावीरसिंह वर्मा**

दि. १२-२-९६ ६४४, बसंत विहार, साके त कॉलोनी, मुज्जफरनगर (उ.प्र.)

✦ ✦ ✦

आदरणीय श्री रणसिंहजी आर्य,

सादर नमस्ते । मैंने **'ब्रह्म विज्ञान'** पुस्तक देखी है जो कि अति मूल्यवान विचारों की पुस्तक है, जिसमें आचार्य त्रयवर के साधनामय जीवन के अनुभवों एवं ऋषि प्रणीत ब्रह्म विद्या के गूढ़ रहस्यों को सरल भाषा में लिखा गया है । जिसका पठन-मनन व आचरण कर कोई भी व्यक्ति प्रभु भक्ति की ओर अग्रसर एवं प्रभु का निष्काम सेवक बन सकता है । आचार्य त्रयप्रवर एवं आप सबका हार्दिक धन्यवाद है, जिन्होंने साधकों के लिए ऐसी बहुमूल्य पुस्तक बनाई ।

ब्र० सत्यप्रकाश दर्शनाचार्य

दि. १९-१२-९५ फिरोजपुर, झिरका, गुड़गांव (हरियाणा) १२२१०४

✦ ✦ ✦

श्रीमान रणसिंह जी आर्य,

सप्रेम नमस्ते । **'ब्रह्म विज्ञान'** पुस्तक प्राप्त हुई । तदर्थ धन्यवाद । आपने इस पुस्तक के संग्रह में जो अनथक प्रयत्न किया है उसके लिए शतश: बधाई । जो सज्जन योग दर्शन के स्वाध्यायी और योग में कुछ प्रवृति रखते हैं उन्हें यह पुस्तक मार्गदर्शक का काम देगी । आपकी योग में रूचि जानकर अति प्रसन्नता हुई ।

भवदीय - **धर्मानन्द सरस्वती**

गुरुकुल आश्रम-आमसेना, खरियार रोड़, नवापारा (उड़ीसा)

✦ ✦ ✦

श्रीमान बन्धुवर यादव जी,

सादर हार्दिक नम्र नमस्ते । भवदीय पुनीत प्रसाद **''ब्रह्म विज्ञान''** अमृत भण्डार प्राप्त हुआ । इस पावन ज्ञानामृत को आपने कैसे हार्दिक उत्साह और उल्हास से गागर में सागर को संग्रहीत किया है । वह पृष्ठ २ पर स्वत: प्रकट होकर पाठकों को मुग्ध करता है ।

भवदीय-कृष्णचन्द्रार्य, पत्रा. काङ्गडी, जि. राजौरी (जम्मु काश्मीर) १८५१५६

✦ ✦ ✦

माननीय श्री आर्य रणसिंह जी,

सादर नमस्ते। आप द्वारा संकलन की हुई पुस्तिका **''ब्रह्म विज्ञान''** प्राप्त हुई। पू० स्वामी सत्यपति जी एवं श्री ज्ञानेश्वर जी के प्रवचन सुनने का मुझे सौभाग्य मिला है। उन उपदेशों को आपने लेखनीबद्धकर प्रकाशित किया है, उस से जन साधारण को और जो उपदेश सुनने नहीं आ सकते उन्हें लाभ होगा। इस प्रयास के लिये आप बधाई के पात्र हैं।

दि. ८-१२-९५ **आपका स्नेहाकांक्षी - केप्टन देवरत्न आर्य**

६०३, मिल्टन अपार्टमेन्ट्स, जुहू तारा, आजाद रोड, मुम्बई

✦ ✦ ✦

समादरणीय भाईश्री रणसिंहजी,

सादर नमस्ते। आपके द्वारा संकलित तथा प्रकाशित **'ब्रह्म विज्ञान'** नामक पुस्तक पढ़ने को मिली। इस पुस्तक में पूज्य स्वामी जी महाराज तथा आचार्यों के शिविर में बताये जाने वाले आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विषयों का संक्षिप्त रूप से बहुत ही सुन्दर संकलन किया गया है। यह आपका बहुत ही उत्तम कार्य है। मैं हृदय से आपको इस कार्य के प्रति शुभ कामनायें देती हूँ।

आपकी शुभाकांक्षी
बुद्धिमती आर्या

आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर, हरिद्वार २, एफ, कमलानगर, दिल्ली-७.

✦ ✦ ✦

My Dear Shri Ranshing ji Arya,

I acknowledge with great pleasure and thanks for **'BRAHMA VIGYAN'** Book mailed to me. I appreciate your endeavour in compiliating extract of lectures of great souls. This Book is an Exclusive extract and is highly useful to SADHAK like me.

Your with great respect
CHINUBHAI G. PATEL
18, Wood Hurstor, Voorhers, N. J. 08043 (U.S.A.)

✦ ✦ ✦

योगादेव तु कैवल्यम्

दर्शन योग महाविद्यालय

(वैदिक दर्शन-अध्यापन एवं योग प्रशिक्षण का आदर्श संस्थान)

आर्य वन विकास क्षेत्र, रोजड़, पत्रालयः सागपुर,
जि. साबरकांठा, गुजरात ३८३३०७
दूरभाष : (०२७७४) २७७२१७, (०२७७०) २८७४१७,
वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) २८७५४८
E-mail : darshanyog@icenet.net
namaste@darshanyog.org
Website : www.darshanyog.org

संक्षिप्त परिचय

स्थापना

दर्शन योग महाविद्यालय की स्थापना चैत्र शुक्ला प्रतिपदा विक्रम संवत् २०४३ (१० अप्रैल १९८६) को श्री स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक द्वारा हुई। इसका प्रारंभिक नाम **'दर्शन एवं योग प्रशिक्षण शिविर'** था।

उद्देश्य

(१) महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टाङ्गयोग की पद्धति से उच्च स्तर के योग-प्रशिक्षकों को तैयार करना, जो देश-विदेश में प्रचलित मिथ्यायोग के स्थान पर सत्य योग का प्रशिक्षण दे सकें।

(२) विशिष्ट योग्यता वाले वैदिक-दार्शनिक विद्वानों का निर्माण करना जो सार्वभौमिक, युक्तियुक्त, अकाट्य, वैज्ञानिक, शाश्वत वैदिक सिद्धातों का, बुद्धिजीवी वर्ग के समक्ष प्रभावपूर्ण शैली से प्रतिपादन करके, उनकी नास्तिकता मिटाकर उन्हें वैदिक धर्मानुयायी बना सकें।

(३) निष्काम भावना से युक्त, मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर तन, मन और धन से सम्पूर्ण जीवन की आहुति देनेवाले व्यक्तियों का निर्माण करना, जो अपनी और संसार की अविद्या, अधर्म तथा दुःखों का विनाश करके उसके स्थान पर विद्या, धर्म तथा आनन्द की स्थापना कर सकें।

प्रवेश के लिए योग्यता

(१) प्रवेश केवल ब्रह्मचारियों के लिए। (आजीवन ब्रह्मचारियों का प्राथमिकता)
(२) समर्पित भावना से युक्त होकर पूर्ण अनुशासन में रहना ।
(३) वैदिक सिद्धान्तों में निष्ठा होना ।
(४) योगाभ्यास तथा दर्शनों के अध्ययन में रुचि होना ।
(५) संस्कृत भाषा पढ़ने, लिखने, बोलने में समर्थ होना (व्याकरणाचार्य, शास्त्री या समकक्ष योग्यता वालों को प्राथमिकता),
(६) यम-नियमों का श्रद्धा पूर्वक पालन करना,
(७) निष्काम भाव से समाज-राष्ट्र की सेवा का संकल्प होना,
(८) त्यागी, तपस्वी, सदाचारी होना,
(९) अध्ययन काल में घर से या स्वजनों से सांसारिक सम्बन्ध न होना,
(१०) अवस्था १८ वर्ष से अधिक होना,

विशेष

प्रवेश लेने वाले ब्रह्मचारियों का तीन मास तक बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक परीक्षण किया जाता है। ब्रह्मचारी के योग्य सिद्ध होने पर ही स्थायी प्रवेश दिया जाता है।

संस्थान की विशेषताएँ

(१) प्रत्येक ब्रह्मचारी को पक्षपात रहित (= समान रूप से) भोजन, वस्त्र, दूध, घी, फल, पुस्तक, आसन आदि सभी वस्तुएँ निःशुल्क प्राप्त हैं।
(२) प्रतिदिन कम से कम दो घण्टे व्यक्तिगत योगाभ्यास (ध्यान) करना अनिवार्य है ।
(३) प्रतिदिन क्रियात्मक योग प्रशिक्षण, (जिसमें विवेक, वैराग्य, अभ्यास, ईश्वरप्रणिधान, मनोनियंत्रण, ध्यान, समाधि तथा स्वस्वामिसम्बन्ध (ममत्व) को हटाना, इत्यादि आध्यात्मिक सूक्ष्म विषयों पर विस्तार से विवेचन किया जाता है ।
(४) यम-नियमों का मनसा, वाचा, कर्मणा सूक्ष्मता से पालन कराया जाता है।
(५) दिन में ६ घण्टे का मौन रहता है, (जिसमें ध्यान, स्वाध्याय आदि सम्मिलित है)।
(६) रात्रि में आत्मनिरीक्षण होता है । (जिसमें दिन भर के दोषों का सबके समक्ष ज्ञापन तथा भविष्य में सुधार हेतु प्रयत्न किया जाता है) ।
(७) वार्तालाप का माध्यम संस्कृत भाषा है ।
(८) प्रतिदिन यज्ञ, वेद पाठ तथा वेदमन्त्र का स्वाध्याय होता है ।

(९) सप्ताह में एक बार आसन-प्रशिक्षण तथा पक्ष (= १५ दिन) में एक बार व्याख्यान प्रशिक्षण होता है ।
(१०) दर्शनों की लिखित एवं मौखिक परीक्षाएँ ली जाती हैं ।
(११) प्रातः काल ४ बजे से रात्रि ९-३० बजे तक आदर्श एवं व्यस्त गुरुकुलीय दिनचर्या है।

उपलब्धियाँ

सन् १९८६ से लेकर २००४ तक महाविद्यालय के १८ वर्षों में १४ प्रान्तों के स्नातक, स्नातकोत्तर (Graduate, Post Graduate), व्याकरणाचार्य, शास्त्री स्तर के लगभग ४० ब्रह्मचारियों को प्रवेश दिया गया। योग, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, वेदान्त तथा मीमांसा, इन षड्दर्शनों का संस्कृत भाष्यों सहित अध्यापन हुआ । ५ दर्शनों की लिखित एवं मौखिक परीक्षाएँ ली गयीं। दर्शनों के अतिरिक्त ईश आदि १० उपनिषदों तथा वेद के चुने हुए अध्यायों का भी अध्यापन किया गया । तथा आंशिक रूप से अष्टाध्यायी व्याकरण का भी अध्यापन किया गया ।

उपर्युक्त दर्शनों को पढ़ाने की योग्यता प्राप्त करने वालों को **'दर्शनाचार्य', 'दर्शन विशारद'** तथा **'दर्शन प्राज्ञ'** उपाधियाँ प्रदान की गयीं तथा क्रियात्मक योग प्रशिक्षण देने में समर्थों को **'योग विशारद'** तथा **'योग प्राज्ञ'** उपाधियाँ प्रदान की गयी ।

ब्रह्मचारियों को वैदिक दार्शनिक गम्भीर सिद्धान्तों का ज्ञान कराया गया, जिसके फलस्वरूप अनेक ब्रह्मचारी सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान करने, गम्भीर विषयों पर निबन्ध लिखने तथा दार्शनिक व्याख्यान देने में निपुण हुए ।

यम-नियमों का सदा व्यवहार में प्रयोग कैसे किया जाये तथा निष्काम कर्म कैसे किये जायें, इस विषयमें भी ब्रह्मचारियों को विशेष प्रशिक्षण दिया गया। ब्रह्मचारियों ने पर्याप्त मात्रा में इन विषयों को समझा और यथाशक्ति जीवन में उतारा।

वर्तमान में भी विद्यालय में लगभग १४ विद्यार्थी इस प्रकार अध्ययन कर रहे हैं । इन १५ वर्षों में अब तक जो ब्रह्मचारी महाविद्यालय में अध्ययन कर चुके हैं, उनमें से अधिकांश स्नातक देश के विभिन्न प्रान्तों में गुरुकुलों का संचालन, संस्कृत भाषा, व्याकरण, दर्शन, उपनिषद् आदि का अध्यापन, योग प्रशिक्षण, पुस्तक लेखन, वैदिक धर्म का प्रचार आदि कार्यों में संलग्न हैं । जिस उद्देश्य को समक्ष रखकर इस विद्यालय का संचालन आरम्भ किया गया था, उस में विद्यालय पर्याप्त मात्रा में सफल हुआ है ।

अन्य प्रवृत्तियाँ

संस्कृत भाषा, व्याकरण, उपनिषद्, दर्शन, वेद के अध्यापन तथा योग प्रशिक्षण के साथ यथा-सामर्थ्य कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी दर्शन योग महाविद्यालय के माध्यम से सम्पन्न किये जा रहे हैं, जिनमें से कुछ कार्य निम्न हैं -

(१) योग प्रशिक्षण शिविर - प्रति वर्ष दो बार कार्तिक व चैत्र मास में = अक्टूबर/नवम्बर मार्च/अप्रैल यहाँ योग प्रशिक्षण शिविर का आयोजन होता है, जिसमें देश भर के १२-१३ प्रान्तों के १५०/२०० साधक उपस्थित होते हैं। अब तक लगभग ३० योग शिविरों का आयोजन किया जा चुका है, जिसमें हजारों साधकों ने भाग लेकर लाभ तो उठाया ही अपितु उनमें से कई सज्जन/महिलाएँ प्रेरणा पाकर अपने-अपने क्षेत्रों में शिविरों का आयोजन व प्रचार करने में संलग्न हैं।

(३) यज्ञ प्रशिक्षण शिविर - देश के अनेक राज्यों में धर्मप्रेमी जनता को यज्ञ अभिमुख करने के उद्देश्य से एक साथ १००/१२५ यजमान परिवारों को यज्ञ के महत्त्व, लाभ, प्रभाव, परिणाम, यज्ञ मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण यज्ञ विषयक विभिन्न शंकाओं का समाधान आदि सैद्धान्तिक परिज्ञान कराया जाता है। पुनः क्रियात्मक अनुष्ठान कराके उन्हें यज्ञकर्म को नियमित रूप से करने हेतु व्रतधारण कराया जाता है। इसके बहुत ही उत्तम परिणाम आए हैं। सैंकड़ों परिवारों ने नियमित यज्ञ करना आरम्भ कर दिया है।

(२) किशोर चरित्र निर्माण शिविर - वर्ष में एक बार ग्रीष्म अवकाश में यह शिविर आयोजित करते हैं, जिसमें किशोरों को वैदिक धर्म, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, आत्मरक्षा आदि का परिज्ञान कराया जाता है।

(३) वैदिक धर्म प्रचार - न केवल देश भर के विभिन्न प्रान्तों में एवं योग/यज्ञ प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन तथा आध्यात्मिक व दार्शनिक विषयों पर पूज्य स्वामी जी आचार्य ज्ञानेश्वर जी, उपाध्याय विवेकभूषण जी तथा अन्य विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता है। अपितु इग्लैंड, आस्ट्रेलिया जैसे विदेशों में भी जाकर वहाँ के निवासियों को वैदिक धर्म, योग व संस्कृति का परिचय दिया गया।

(४) जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान - वैदिक योग, दर्शन, एवं अध्यात्म सम्बन्धी शंकाओं का शिविरों प्रवचनों में शंका समाधान के कार्यक्रम के माध्यम से, पत्राचार से और व्यक्तिगत मिलकर किया जाता है।

(५) साहित्य प्रकाशन - योग आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक आध्यात्मिक, धार्मिक पुस्तकें, पुस्तिकाओं, पत्रकों का प्रकाशन तथा उनका निःशुल्क/लागत व्यय पर वितरण किया जाता है। अब तक ५० लाख रुपए का साहित्य प्रकाशित किया जा चुका है।

✦ ✦ ✦

विद्यालय का एक नया उपक्रम

वानप्रस्थ साधक आश्रम

वैदिक धर्म में निष्ठा रखने वाले, तपस्वी, योगाभ्यासी, पठित, वैराग्य से युक्त, घर गृहस्थी के दायित्वों से मुक्त वयस्थों के लिये साधना, स्वाध्याय और सेवा के अवसर प्राप्त कराने वाले इस बहु-आयामी प्रकल्प में ६०० से ७०० साधकों की क्षमता वाला भव्य भूमिगत ध्यानकक्ष, १७०० व्यक्तियों के बैठनेवाला विशाल सभागार, सुन्दर यज्ञशाला, अनुसन्धान भवन, साहित्य प्रकाशन भवन, पुस्तकालय, साधकों की कुटियाएँ, अतिथि शालाएँ, चिकित्सालय, फव्वारे सहित सुन्दर वाटिकाएँ, भोजनाशाला आदि का निर्माण रु. ५.५ करोड़ के अनुमानित व्यय से करने का आयोजन है।

आश्रम के लिये आर्यवन विकास फार्म ट्रस्ट की ओर से लगभग १२ एकड़ भूमि प्राप्त हुई है। २१ नवम्बर १९९९ को पू. स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक का ५१ लाख रुपये की राशि से सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया था। पू. स्वामी जी महाराज ने यह सम्पूर्ण राशि वानप्रस्थ साधक आश्रम के निमित्त समर्पित कर दी। यह राशि स्वामी जी के भक्त, प्रशंसक, अनुयायी, शिष्य वर्ग ने केवल २ मास के स्वल्पकाल में ही एकत्रित कर दी थी।

इस महत्त्वकांक्षी योजना का क्रियान्वयन हो चुका है। योजना के रूपरेखा-अभिकल्प (Lay out Plan) और साधकों की कुटियाओं के नक्शों को अन्तिम स्वरूप दे दिया गया है। और निर्माण कार्य आरम्भ हो गया है।

✦ ✦ ✦